प्रकाशक—
श्री शंभूदयाल सक्सेना
मंत्री, अर्चना-मंदिर
बीकानेर, लाहौर।

मुद्रक—
श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'
भारती प्रिंटिंग प्रेस,
[illegible], लाहौर

उसने अपने असंख्य वरदानों से उसके कण-कण को आच्छादित कर रखा है, उसी प्रकार तुलसी की काव्य-धारा में हमारी जीवन-भूमि सराबोर हो रही है।

विश्वसाहित्य पर एक दृष्टि डाल कर तुलसी का वास्तविक मूल्य आँका जा सकता है। उनकी विशालता और शालीनता, उनकी उच्चता और भव्यता का स्थान निर्धारित करनेके लिए विश्व-संस्कृति, विश्व-सभ्यता और विश्व-साहित्य के सम्यक् परिशीलन की दृष्टि चाहिए। हिन्दी और भारतीय साहित्य के दायरे में सीमित करके उनकी काव्य-सृष्टि का पर्यालोचन नहीं हो सकता। वैसा करके हम उन मनीषी महात्मा को समीक्षा के छिछले नाप से नापना चाहते हैं।

काव्यकला और काव्यचमत्कार कृत्रिम साधना के फल हैं। वे निष्प्राण और निस्तेज हैं, यदि उनके साथ मार्मिक और व्यापक अनुभूति का समन्वय न हो। सच्ची साधना का क्षेत्र अन्तःकरण ही है। जीवन-वैविध्य के जो नाना चित्र हृदय-पटल पर अपने अमिट पद-चिह्न छोड़ जाते हैं, उन्हें स्वीकृत आदर्शों के साँचे में अभिल-षित रूप देकर, कृत्रिम उपकरणों के सहारे, रमणीय रूप में प्रकट करना कला और चमत्कार से भिन्न वस्तु है। साहित्य की यही आत्मा है। काव्य का यही संगीत है। इस साहित्य का स्रष्टा, इस संगीत का स्वरकार कोई महान् प्रणेता ही होता है। आगे के पृष्ठों में हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि गोस्वामी जी का काव्य-साहित्य कोरा वाणी-विलास ही नहीं वरन् हृदय-तन्त्री का स्वाभाविक संगीत है, आत्मा के दिव्य रूप का अपूर्व स्फुरण है।

गोस्वामीजी का आविर्भाव हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता के पुनरुत्थान के रूप में

हुआ; यद्यपि इस प्रवृत्ति का वायुमण्डल हिन्दू-साम्राज्य के
बाद से ही अपने आकार को ग्रहण कर रहा था। सदियों
पुरातन, सम्मान्य और स्वर्ग की ऊँचाई पर आसीन देवोपम
पर इस्लाम का बर्बर प्रहार, उसको विध्वस्त और निर्मूल क
हेतु उसका भीषण ताण्डव, यदि बिना किसी प्रतिक्रिया के संप
जाता तो भारतवर्ष को हम ऋषियों और मनीषियों का देश न
पर शूरों का देश कहना अधिक उपयुक्त समझते। इस्लाम
आँधी जब पहले पहल अरब के मरुस्थल में उठी थी, और उ
पर्दों के आकाश को भीम वेग से आच्छादित कर लिया था,
समय उसमें बर्बरता की मात्रा विशेष थी। कई शताब्दी उपरान
फ़िलस्तीन, फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान के विस्तृत पथ को पार क
जब उसने भारत में प्रवेश किया तब वह सभ्यता और संस्कृति के
तत्वों को ग्रहण करके भीतर से मृदुता और मनुष्यता का मूल्य सम-
झने योग्य होगई थी, यद्यपि अभी तक उसका बाह्य दर्शन भयावह
था। हिन्दू और बौद्ध सभ्यता का अपोलव कठिन रत्नाकर भार-
तीय राष्ट्र अपने इस पतन-काल में भी इस प्राचीन आलोक और
वैभव को भूला न था। इस विधर्मी सभ्यता की तुलना में इस्लाम
उसे एक अभिराम बर्बर प्रतीत हुआ। फलतः शारीरिक प्रतिरोध
की शक्ति के परास्त होजाने पर अन्यान्य शक्तियों से उसे दुत्कारा,
उस पर अपनी घृणा और उसके रोष की वर्षा की। इन्हीं अवस्थाओं
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

संभवतः किसी अन्य एक व्यक्ति ने नहीं दिया। इस दृष्टि से, एवं सर्वथा साहित्यिक दृष्टि से भी तुलसी तुलसी ही हैं। उनकी समकक्षता का दावा करनेवाला कोई दूसरा कवि, समाजसुधारक, योद्धा, राजनीतिनेता अथवा राष्ट्रनिर्माता हमारी दृष्टि में नहीं आता। गंगातट पर एक कुटिया में बैठे हुए, इस जटाधारी संसार-त्यागी महात्मा ने अपने आस-पास के संसार का जो महान् उपकार किया है, उसका कौन अन्दाज लगा सकता है? इस मनीषी की दृष्टि कितनी पारदर्शिनी, इसका ज्ञान कितना विस्तृत, इसकी कल्पना कितनी अकंम्पित, इसकी भावुकता और सहृदयता कैसी कणकण-व्यापिनी थी—यह इसकी अपूर्व सृष्टि और उसके मोदक सर्वव्यापी प्रभाव से हृदयंगम किया जा सकता है।

तुलसी की रचनाओं का व्यापक दृष्टिकोण—

किसी भी एक साहित्यकार ने जीवन को इतने व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देखा। आकाश की तरह सबको छा लेने की क्षमता और किसी में नहीं है। 'जायसी' को लीजिये। सौंदर्य और प्रेम की लोकोत्तर भावना का कैसा मर्मस्पर्शी और हृदयहारी चित्र उन्होंने खींचा है। उनके लौकिक प्रेम और विरह की वाणी में अलौकिक सौंदर्य और विरह की व्याकुलता की अद्भुत झांकी देखने को मिलती है। सामान्य जीवन की मधुर-मनोहर चित्रावली प्रस्तुत करने में उन्हें कमाल हासिल है। पर उनमें जीवन की सर्वांङ्गीणता का अभाव है। सूरदास भी अपने क्षेत्र में अपना जोड़ नहीं रखते। वात्सल्य-वृत्तियों के अंकन में, प्रेम-पीड़ा के प्रदर्शन में, इस अन्धे ने दुनियाँ की आँखों को रोशनी दी है। इनकी कृपा से जीवन के कई क्षेत्रों में ऐसी घनघोर रस-वर्षा हुई कि गुणरहित अमर मुनि भी हास्य

रहता है। सुख में, दुःख में, ईर्षा में, प्रेम में, उत्साह और आनन्द के समय, राग और विराग के अवसर पर उसे अपना संगी और सान्त्वना-प्रदायक नहीं समझा जा सकता। तुलसी इस विशेषता को उसकी सर्वाङ्गीणता के साथ अपने में लिए हुए हैं। इसीलिए वह जनसाधारण का कवि, उनके जीवन-संगीत का गायक तथा उनकी भावनाओं का चितेरा है।

कविता के गुण और तुलसी के काव्य में उनकी योजना—

कविता की विशेषताओं में सार्वजनीनता, भावमग्नता और रसज्ञता प्रमुख हैं। इस त्रिवेणी की धारा में अवगाहन करके जो कवित्व-कुसुम प्रस्फुटित होता है उसमें स्थायी सुगन्ध, एकरस सुषमा और चिरजनीन लावण्य-श्री वर्तमान रहती है। कवि की विचारधारा का साधारणीकरण इसी सार्वजनीनता अर्थात् प्रसाद गुण के द्वारा होता है। कितनी अनमोल विचारावली, कितनी मार्मिक भाव-धाराएँ इसके अभाव में श्रेणी-विशेषके पाठकों के संकीर्ण दायरे में सीमित रह जाती हैं। तुलसी की वाणी इस विशेषता से परिपूर्ण है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव एवं व्यापार को सीधी सरल शब्दावली में प्रस्तुत करना तुलसी बहुत अच्छा जानते हैं। इसके अतिरिक्त स्वाभाविक सरलता के प्रत्येक क्षेत्र को तुलसी ने मथ-मथ कर उसमें से अच्छी तरह नवनीत रस निकालकर प्रस्तुत किया है। उनके समस्त ग्रन्थ पढ़ जाइये। जहाँ उन्होंने आलंकारिक शैली का भी आश्रय लिया है, वहाँ भी सरलताके तत्वों को छोड़ा नहीं है। वाणी में सरलता भाषा-विन्यास में सरलता, छन्दों के चुनाव में सरलता, शैली में सरलता के साथ ही और पात्रों के जीवन में भी सरलता कूट-कूट कर भरी है। उनके राम के आगे आज देखिये। वे अपने

दोनों पहलुओं को प्रदर्शित करके वाचक की सुकुमार वृत्तियों को स्वतः जागरूक होने दिया गया है; फलतः वहाँ सरलता का मूल्य और भी अभिराम रूप में प्रकट हुआ है। मंथरा और कैकेयी की मंत्रणा का स्थल इसी प्रकार का है। और कहाँ तक कहें, जिसने वनवासी बर्बर कोल-किरातों में भी सरलता के प्राण फूँक दिये हैं, उस कवि की कविता सर्वसाधारण की वस्तु न होगी तो और क्या उस कवि की होगी जो वक्रोक्तियों और श्लेषों के अस्वाभाविक संसार में रहता है।

भावमयता की ओर तुलसी की प्रवृत्ति को दिखाना सूर्य को दीपक लेकर बताने का प्रयास करना है। किसी कवि की भावमयता का आकलन उसकी मुक्तक-रचना-शैली में जिस दृष्टिकोण से किया जाता है उसी दृष्टिकोण से प्रबन्धकाव्य में नहीं हो सकता। प्रबंध-काव्य कथासूत्र को लेकर चलता है। उस सूत्र-संबंध को बनाये रखने में ही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार के काव्यों में भावमयता का पता कवि की उस सहृदयता से लगता है, जिससे वह उपाख्यान के मर्मस्थलों का सङ्कलन करता है। इस प्रवृत्ति में उसकी भावुकता की परख हो जाती है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसी की भावुकता' शीर्षक देकर तुलसी के सम्बन्ध में ठीक इसी दृष्टि से लिखा है—"प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं—

राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य,

रामचरित मानस प्रबन्ध काव्य है। कवितावली और गीतावली में कथा का निरन्तर सूत्र मानस की भाँति नहीं है तो भी उनमें कथानक का क्रम पाया जाता है। इसीलिये उनमें मानस की अपेक्षा कवि की भावुकता विशेष रूप में प्रगट हुई है। कथाभाग के नीरस अंशों का परित्याग उनमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह सब होते हुये भी तुलसी में सस्ती भावुकता नहीं है। वे हृदय में ऊपर-ऊपर से गुदगुदियाँ लेकर नहीं रह जाते, प्रत्युत अन्तःकरण की समस्त उदात्त वृत्तियों में जागरण पैदा करने की अपूर्व कला प्रदर्शित करते हैं। उनके शील निरूपण में व्यक्तित्व का उत्कर्ष है, तो उनकी मौलिक दृष्टि में निमत्व से परे विविधता का प्रकाश है। उनकी सहृदयता में कौनसी विशेषता अधिक निमग्न और निमज्जित है यह कहना कठिन है। उन्हीं के शब्दों में 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कह कर सन्तोष करना पड़ता है। तथापि उनकी भावुकता के विषय में इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह समुद्र की गहराई की की भाँति सुगंभीर है, और उनकी चित्तवृत्ति अविराम-धारापात-निर्झर की भाँति तरल और द्रवनशील है। यह संगीत उन्हीं की सुमधुर-सकरुण वंशी से प्रसूत हो सकता था—

जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखो पिय छाँह घरीक है ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।
'तुलसी', रघुबीर प्रिया-श्रम जानि कै बैठि बिलम्ब लौ कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े।

साँभर झील में जो कुछ पड़ जाता है सभी नमक बन जाता है। भावुकता की इस मन्दाकिनी में भी जो कुछ पड़ गया है वह उसमें एकरस और एकप्रास हो गया है। हृदय के कलुष और उसके विकार को प्रक्षालित करने के लिए तुलसी के पास अपार निधि है।

में घुलकर प्रकट हुये से प्रतीत होते हैं। उनकी रसज्ञता शारीरिक व्यवधान का अतिक्रम करके इन्द्रियजन्य-वासना से ऊपर उठ जाती है। वह ऐसा अलौकिक वातावरण सृजन करती है, जिसमें साँस लेने में रूप-सौष्ठव तो रहता है, परंतु कोरी ऐन्द्रियता का तिरोभाव हो जाता है; प्रेम के निगूढ़ मकरन्द की सुरभि और सुषमा तो कहीं नहीं जाती परंतु उसकी उद्दाम वासना के 'पार्थिव वर्णागंध' का पता नहीं रह जाता। उनकी निम्न पंक्तियों में उनकी रसज्ञता पंख पसारकर साहित्य के आकाश को छाये हुये है, तो भी क्या सहृदयों का हृदय-भ्रमर अघाता है? उसकी तृषा अतृप्त रह जाती है, पर वह तुलसी को उनकी कृति के लिए साधुवाद दिये बिना नहीं रहता।

सीता, राम और लक्ष्मण वनवीथियों में चले जा रहे हैं। पार्श्व-वर्ती ग्रामों के स्त्री-पुरुष अनूप-रूप राजकुमारों के दर्शनार्थ दौड़ पड़ते हैं। ग्रामवधुएँ साहस करके अपनी सहज सरलता से जानकी जी से पूछती हैं, और वे उनको किस प्रकार उत्तर देती हैं; इस विषय का दिग्दर्शन तुलसीकी विदग्ध वाणी में इस प्रकार हुआ है—

कोटि मनोज लजावनहारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुच सीय मन महँ मुसुकानी।
तिनिहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचत बरबरनी।
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदनबिधु अंचल ढाकी। पिय तन चितै भौंह करि बाकी।
[illegible] तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।

जीवन से दूर जा पड़ेगा। सीता और सावित्री के शील-सदाचरण का अमृत-रस जिसने पान किया हो, उस देश के जीवन का गीत वाल्मीकि और तुलसी की वाणी में ही गाया जा सकता है।

अन्यत्र एक स्थल पर रुचि की रसज्ञता दूसरेही रूप में व्यक्त हुई है। वहाँ हम व्यंग पूर्ण हास्य से उसका मुख मंडित हुआ पाते हैं। उस रसज्ञता की यह मीठी चुटकी बड़ी भली और आकर्षक मनोज्ञ होती है।

> बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
> *गौतम-तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे।*
> ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्हीं भली, रघुनायकजू, करुना करि कानन को पगु धारे।

निर्दोष पर चुभती हुई चुटकी लेकर गोस्वामी जी ने संन्यासी-जीवन की एक मार्मिक अनुभूति को कह डाला है। तपस्या और साधना की परम प्राप्ति से पूर्व की अवस्था में अन्तःकरण की वृत्तियाँ किस ओर, कब और कैसी उन्मुख रहती हैं, इस बात को गोस्वामीजी भली भाँति जानते थे। उन्होंने जीवन के दोनों चरम छोर छूकर देख लिये थे। संसारिक प्रेम से पूतपावन भगवद्भक्ति तक के मार्ग को उन्हीं पैरों तय करने वाला यह यात्री प्रामाणिक ढंग से कुछ कहने का अधिकार रखता है।

मानव हृदय और मानव जीवन के कवि तुलसीदास—

सच्चे अर्थों में महाकवि वही है, जो देश-काल की सीमा से बद्ध न हो, जिसकी अनुभूतियाँ शाश्वत जीवन की गहराई में उतर कर उसकी व्याख्या करती हों, जो सतयुग और कलियुग दोनों को समानभाव से प्रिय हो, जो प्राच्य और पाश्चात्य दोनों में प्रवाहित

होने वाली भावधारा की सुधाधारा से जगत का अभिसिंचन करता हो, जिसके दृष्टिकोण में मन्वन्तर दर्शन हों जिसके कलकण्ठ में सम्पूर्ण युग का सङ्गीत भरा हो। व्यास और वाल्मीकि में, कालिदास और भवभूति में, होमर और वर्जिल में, दान्ते और मिल्टन में, इसी चिरन्तन मानवजीवन का व्याख्यान है। तभी तो युग और सदियाँ इन्हें पुराना नहीं कर सकी हैं। इनमें बीसवीं सदी के विज्ञानयुग का मानव-हृदय भी उसी भाँति रमता है जिस भाँति तत्कालीन मनुष्य की अन्तःप्रवृत्तियाँ क्रीड़ा करती थीं। ग्रीस, रोम अथवा भारत की प्राकृतिक सीमाएँ उनके प्रभाव को विश्वव्यापी होने से रोक नहीं सकी हैं। यदि ऐसा न होता तो गेटे का हृदय कालिदास के कवित्व को इतनी मार्मिकता से अनुभव न कर पाता। छन्द, अलंकार, रस और रीति की विशेषताओं से विश्वकवियों की यह विशेषता अधिक ध्यान देने योग्य है। गोस्वामीजी ने मानव-हृदय और मानवजीवन के चित्र सर्वत्र बड़ी रंगीन रेखाओं से अंकित किये हैं। उनके ये चित्र सहज भाव से पाठक के भावों को नाप डालते हैं। ऐसा कौन पाषाणहृदय है जो उनकी इस स्निग्धता से द्रवीभूत नहीं होता?

उनके मानव-हृदय के शाश्वत चित्रों का सङ्कलन करके देखिये, वे कैसे पूर्ण और सत्य हैं। सीतास्वयम्बर में धनुर्भङ्ग से पूर्व के कुछ क्षणों में सीता के हृदय की क्या दशा होती है उसका चित्र खींचते हुए गुसाईंजी कहते हैं—

> देखि-देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।
> भरे विलोचन प्रेमजल, पुलकावली शरीर॥
> प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
> खेलत मनसिज-मीन-जुग जनु विधुमंडल डोल॥

पूर्वानुरक्ता एक कुमारी का हृदय ऐसे समय इस प्रतिच्छवि से पूर्ण दिखाकर कवि ने त्रैकालिक सत्य की स्थापना की है। सदा ही कुमारी हृदय ऐसे अवसर पर इसी प्रकार की व्याकुलता का अनुभव करता है और करेगा—

एक दूसरे स्थान पर वधू जानकी के हृदय का चित्र अङ्कित हुआ है उसे भी देखिये। रामचन्द्र राजतिलक के स्थान पर वनयात्रा को सन्नद्ध हुए हैं, उस समय वधू जानकी अपनी सास कौशल्या के सामने बैठी हैं—

बैठि नमित मुख, सोचति सीता। × × ×।
चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू।
की तनु-प्राण कि केवल प्राना। विधि-करतब कछु जाइ न जाना।
चारु चरन नख लेखति धरनी। × × ×।

वधूहृदय की भावनाएँ कैसी सादगी से किन्तु कैसे मर्मपूर्ण ढङ्ग से व्यक्त हुई हैं। आगे सीता के कथन के मिस शाश्वत नारी-हृदय जैसे खोल कर रख दिया है। किसी के लिए कुछ अलगाव नहीं है, कुछ अन्तर नहीं है, जैसे सब अपना ही अपना है। राजकुमारी अलहड़ता के कण्ठ के साथ नारी-जीवन का संगीत ध्वनित होरहा है—

प्राननाथ तुम बिन जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं।
खग-मृग परिजन, नगर बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन सम परनसाल सुखमूल॥
कुस किसलय सायरी सुहाई। प्रभु सग मंजु मनोज तुराई।
कंद-मूल-फल अमिय अहारू। अवध सौध-सत सरिस पहारू।
राखिय अवध जो अवध लगि, रहत जानियहि प्रान।
× × ×

नारी-हृदय की उत्सर्ग-भावना मूर्तिमान होकर बोल पड़ी है। इसी प्रकार दशरथ-कौशल्या, ऋषि-मुनि, ग्रामवासी स्त्री पुरुष, कोल-किरात, नर-वानर सबके मनोभावों में गोस्वामीजी ने हृदय की शाश्वत भावनाओं को अभिव्यञ्जित किया है। उनकी वाणी कहीं पर क्षणिकता के प्रवाह में नहीं बहकी है। धैर्य, सन्तोष और पूर्ण आधिपत्य के साथ उन्होंने मानव-हृदय की विविध प्रवृत्तियों को आकार प्रदान किया है।

वे मानव-जीवन के अद्भुत पारखी हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अपने इस अपूर्व कौशल को अच्छी तरह व्यक्त किया है। तथापि रामकथा और उसके चरित्र उनकी मौलिक सृष्टि नहीं हैं, यद्यपि उनके रूप-निर्माण में गोस्वामीजी ने अपनेपन की ऐसी गहरी छाप लगा दी है कि वे उनके स्रष्टा ही कहे जा सकते हैं। पहले बताया जा चुका है कि उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करके अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। पशु-पक्षी, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, भाई-भाई, मित्र-मित्र, मित्र-शत्रु, गुरु-शिष्य, बन्धु-बांधव, नर-वानर, मनुष्य-पशु, पुरुष-प्रकृति, साधु-संन्यासी, ऋषि-मुनि सब को रामचरितमानस में स्थान मिला है। प्रायः सभी संभाव्य सम्बन्ध अपने काव्य में सफलतापूर्वक नियोजित करने वाले तुलसीदास ने हिन्दीभाषा को विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य अमूल्य कृति प्रदान की है। जीवन की ऐसी विशद व्याख्या और कोई भाषा-कवि नहीं कर सका है। शाश्वत जीवन-प्रवाह में निरन्तर-तरङ्गायमान वीचियों और हिल्लोलों से जिसने अपने काव्य-कलेवर को सजीव किया है, उसकी जीवनानुभूति बड़ी तलस्पर्शिनी है। तुलसी सामूहिक समुत्थान की जिस सञ्जीवनी को लेकर प्रकट हुए हैं, वह उत्तर भारतीय राष्ट्र की रग-रग में

मिल गई है। सब कोई उनमें अपने जीवन की प्रियवस्तु, अपनी रुचि की सामग्री, पा लेते हैं।

तुलसी का अलंकार-विधान, छन्द-निर्वाचन एवं उनकी भाषा—

काव्य के दो प्रधान पक्ष हैं, भाव-पक्ष और कला-पक्ष। अलंकार योजना का प्रयोजन कला-पक्ष की पूर्ति है। और कला-पक्ष का शृंगार अन्ततः भावोत्कर्ष में सहायक होने के लिए है। इस तारतम्य को तुलसी ने जैसा समझा है और उसका निर्वाह किया है, उसको देखकर उनकी कलाविदु-रुचि और उनके कवि-हृदय का परिचय मिलता है। उनकी अलंकार-योजना अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूपविधान में ही प्रवृत्त न रहकर हमारे भावोत्कर्ष में भी सहायक होती है। उपमा और रूपक के इस महाकवि में भाव-व्यंजना की बड़ी प्रबल शक्ति है। उदाहरणार्थ जनकनन्दिनी सीता के रूपका चित्रण करते हुए उन्होंने कहा है—

जो पै सुधा-पयोनिधि होई। परमरूपमय कच्छप सोई।
सोभा-रजु मन्दर-सिंगारू। मथै पानि-पंकज निज मारू।
यहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल।

यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के चयन में कैसी सुरुचि और सरस दृष्टि का आभास मिलता है? अलंकार यहाँ स्वयंसेवक बने हैं, कल्पना गगनविहारिणी हो रही है, भावोत्कर्ष उत्तरोत्तर होकर एक अपूर्व रमणीयता की सृष्टि करता है। सीता की छवि, उनकी रूपछटा, उनकी दिव्य पवित्रता के आवरण में कुलवधू की भाँति अपने आपको अवगुंठनवती किये कैसी हृदयहारिणी हो रही है,

इसे बनाने की आवश्यकता नहीं । चौपाई की कड़ियों को दो चार गुनगुनाने मात्र से तुलसी के कौशल की झलक मिलने लगती है ।

इसी प्रकार सीता-हरण के उपरान्त श्रीरामचन्द्र की विरहा-कुल कातरोक्ति को गोस्वामी जी ने जिन शब्दों में रखा है, तनिक इसे भी देखिये । वन-वन मारे-मारे फिरते हुए रघुवीर कहते हैं—

> हे खगमृग हे मधुकर-श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनयनी ।
> खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप-निकर कोकिला प्रबीना ।
> कुंदकली दाड़िम दामिनी । सरद-कमल ससि अहिभामिनी ।
> बरुन-पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ।
> श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक-सकुच मन माहीं ।
> सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ।
> किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ।

इस अलंकार-योजना को पाकर कौन कविता धन्य नहीं होगी ? इसके पारायण से सोई हुई सौंदर्यानुभूति जग उठती है, हृदय के कपाट खुल जाते हैं, भावों की घनघोर घटा उमड़ कर समस्त अन्तः प्रदेश को छा लेती है । राम और सीता, उनका समस्त जीवन, उनके सुकुमार सुदर्शन कलेवर, उनके आसपास विस्तीर्ण वनश्री, उनके सहचारी पशु-पक्षी जो उनके अनुरूप लावण्य की प्रतिच्छवि को धारण करने की आकांक्षा में सराबोर रहते हैं, अपने जीवन-व्यापार द्वारा कैसी सुषमापूर्ण अनुभूति प्रदान करते हैं । 'अलंकारों' के इस निर्वाह में हृदय के योग्य सामग्री का प्राचुर्य कवित्व की सर्वोत्तम विभूति है । इस विभूति का तुलसी के यहाँ एकाधिपत्य है । इसीलिए उनकी अलंकृत शैली भी हमें स्वाभाविक और मनोरम प्रतीत होती है । हम अपने आपको थोड़ी देर के लिए उनकी कविता में विलीन कर देते हैं ।

वर्तमान हिन्दी-कविता में प्रस्तुत के आधार को छोड़ कर अप्रस्तुत-रूप-योजना की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसका फल कविता के अर्थ-बोध में अस्पष्टता को उत्पन्न कर रहा है, जो स्वाभाविक है। यह बात नहीं कि तुलसीदास जैसे वाग्वाक् कवि इस प्रकार की अलंकार-योजना में असमर्थ रहे हों पर वे जानते थे कि वाणी को सार्वभौमिक बनाने के लिए अलंकार-योजना का प्रसादमयी होना अनिवार्य है। इसी कारण 'मानस रूपक' और 'प्रयाग रूपक' जैसे लम्बे-लम्बे रूपकों का सर्वांगीण निर्वाह करते हुए भी वे एक स्थल को दुरूह नहीं होने । प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साधर्म्य और सादृश्य की ओर उनकी दृष्टि बराबर बनी रहती है । उनकी रमणीय उक्ति से उनके अनुभव का आधार स्फटिक की भांति स्वच्छ और पारदर्शी प्रतीत होता है।

छन्दों के चुनाव में विषय की अनुकूलता का ध्यान तुलसीदास ने बराबर रखा है। आचार्य केशवदास ने साहित्यशास्त्र का मंथन करने में पारदर्शिता प्राप्त की थी। उन्होंने 'रामचन्द्रिका' में अगणित छन्दों का समावेश किया, पर तुलसी की विदग्धता अनोखी है। अपने समय की प्रचलित समस्त छन्द-प्रणालियों का गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में प्रयोग किया; और सबको थोड़ा-बहुत परिमार्जित करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। छन्द के साथ विषय-स्थल के सामंजस्य को उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से समझा है। इस विषय में उनकी सी विवेचनात्मक दृष्टि हिन्दी के किसी कवि में नहीं दिखाई पड़ती। कविवर देव और पद्माकर आदि की छन्द-रचना प्रख्यात है, पर तुलसी जैसी व्यापक और तत्त्वदर्शिनी सूक्ष्मता का गर्व वे भी नहीं कर सकते। उनके 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि

जैसे स्थलों में शब्द-विन्यास, छन्द-रचना और वर्ण्य विषय सब एक-कण्ठ और और एक-प्राण होकर प्रतिध्वनित हो उठते हैं। ऐसे स्थल उनकी रचनाओं में अनेक हैं, और सर्वत्र वे सफलता-पूर्वक रचित हैं, यथा 'घनघमण्ड नभ गरजत घोरा' और 'राम राम हा राम पुकारी' इत्यादि। केवल 'रामचरितमानस' को ध्यान-पूर्वक पढ़ने से ही छन्दों के सम्बन्ध में उनकी सामञ्जस्यात्मक दृष्टि का पता लग जाता है। चौपाई और दोहों में निर्मित इस महाकाव्य में अन्य छन्दों तथा गीतों ने स्थान पाया है, पर वहीं जहाँ उनकी अनिवार्य आवश्यकता थी। स्तुति-प्रार्थना आदि के लिए विस्तृत कलेवर एवं विशेष लय वाले छन्दों का परिग्रहण इस बात का द्योतक है। चलती हुई कथा के जीवन में आकस्मिक परिवर्तन घटित होने की सूचना 'राम चरित मानस' में परिवर्तित छन्दों द्वारा अनायास मिल जाती है; तथा परिस्थिति और छन्दों का मेल ऐसा बैठा हुआ मिलता है कि पाठक को उसमें परदेशीपन की गन्ध तक नहीं मिलती। उदाहरणार्थ धनुर्भङ्ग से पूर्व कथा की धारा जिस प्रकार चली आ रही थी, धनुर्भङ्ग होते ही वह धारा बदलनी चाहिए थी। जहाँ सभा में प्रशान्त निस्तब्धता और विस्मय अभिभूत हो रहा था, वहाँ खलबली मचनी अनिवार्य थी। अवसर की इस आनु-कूल्य को शिक्षित-संगीत-विचक्षण तुलसी जाने कैसे दे सकते थे, चौपाई के लघु चरणों को अपर्याप्त समझ कर उन्हें यों लिखना आरम्भ किया—

> भरे भुवन घोर कठोर रव, रबि बाजि तजि मारग चले।
> चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले।
> सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं
> कोदंड खंडेउ राम 'तुलसी' जयति बचन उचारहीं।

उनके उक्तिवैचित्र्य में जो मनोहारिता है, उसके लिये अन्य कवि तरसते हैं। बिना प्रयास के लक्षणा-व्यंजना एवं वक्रोक्ति की मनोरम योजना कर लेना उसी को साध्य है जिसको अक्षय शब्द-भण्डार सुलभ हो और जिसने शब्दार्थ-योजना के नानारूपों पर स्वायत्त प्राप्त कर लिया हो। तुलसी को शब्दों के वाचक, लक्षक और व्यंजक प्रयोगों की कुंजी प्राप्त है। इसीलिए उनकी उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक और हृदयग्राही होती हैं। वे अपने भावों के प्रकाशन के लिये जिस प्रकार चाहते हैं भाषा, शब्दों और उक्तियों को नचाते हैं। वाणी और अर्थ सहस्त्र करों से उनकी मनोदशा को व्यक्त करने में लगे हुये प्रतीत होते हैं।

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं।

+ + + +

जनमे एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिम गुन बिलगाहीं।

संत और दुष्टों के सम्बन्ध में कैसी सरलता से गोस्वामी जी आलोचना करते हैं? इस उक्ति में भाव भाषा आदि में से किसकी शिकायत हो सकती है? पुत्र वियोग में कौशल्या किस भाँति अपने प्राण रख रही हैं, यह गोस्वामी जी के शब्दों में देखिये—

लागे रहत मेरे नयननि आगे राम लखन अरु सीता।

साथ-साथ वनयात्रा को प्रस्तुत जानकी को राम समझाते हैं और सीता उत्तर देती हैं। कैसा औचित्य पूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर कराया गया है:—

रामः—नर अहार रजनीचर करहीं। कपट वेष बन कोटिक फिरहीं।

× × × ×

डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम भीरु सुभाये।
सीता:—जो प्रभु संग मोहि चितवनहारा। सिंह-वधुहि-जिमि ससक सियारा।

× × × ×

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू।

सीधे-सादे शब्दों में इतनी खूबी भरते भाषा के चतुर शिल्पी के सिवा क्या सबको शक्य है?

राम-जानकी के दाम्पत्य-जीवन का एक और शब्द-चित्र देखिये—

पुर ते निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं चलनोब कितौ पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै।

इसमें कवि ने कितनी अवस्थाओं और कितने हाव-भावों को गुम्फित कर दिया है। फिर भी भाषा कैसी प्रवाहमयी और स्वतः बोलती हुई है। काव्य-कला की अनेक विशेषताओं से युक्त इस वाणी-विलास पर किसका हृदय निछावर नहीं होता?

अन्त में हम इतना ही कहेंगे कि गोस्वामी तुलसीदास को पाकर हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान धन्य है। हिमालय से कन्या-कुमारी तक, ब्रह्मपुत्र से अरब सागर पर्यन्त, विस्तीर्ण भूखण्ड में भक्त, महर्षि, लोक-मर्यादा के रक्षक महाकवि तुलसीदास का जो यशोगान हो रहा है, वे उससे भी अधिक हमारे आदर-सन्मान के अधिकारी हैं। उन्होंने हमारे पतनकाल में, हमारे पूर्वजों की वाणी में, इ । दिव्य सङ्गीत को ऐसी एकान्त तन्मयता से गाया कि

वह हमारे रोम-रंध्रों में गूँजकर रह गया है। उसी के प्रभाव से आज हम अपनी वेशभूषा, रीतिनीति, संस्कृति और सभ्यता की कद्र करने लायक सुरुचि और सुदृष्टि पा सके हैं; नहीं तो उठती हुई सभ्यताओं के वात्या-चक्र हमारे अस्तित्व को इतिहास के पृष्ठों की सामग्री बना देते। पश्चिम से पूर्व तक देख जाइये आपको प्राचीन सभ्यताओं के भग्नावशेषों पर नई इमारतें खड़ी मिलेंगी; जब कि तुलसी की कृपा से, और उनके पिलाये रामरसायन से, हम भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रमों की कीमत समझते हैं; कुटियों की ओर हमारा ध्यान जा रहा है और हम मनुष्यता को मित्रभाव से देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं।

महाकवि भूषण के काव्य की विशेषताएँ

कवि के काव्य को समझने में उसका जीवन भी सहायक होता है, अतः कवि के जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करने से ही उसकी कृति की यथार्थ परख हो सकती है और उसके प्रति उपयुक्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जा सकती है। कारण कवि परोक्ष रूप से अपनी कृति के पीछे सदा मौजूद रहता है। उसकी विशेषता, उसका अपना व्यक्तित्व, कभी उससे पृथक नहीं रहते। कवि-जीवन की अनुभूति ही तो वह हिमनद है जिससे काव्य-मंदाकिनी का धारा प्रवाह उद्गत और प्रवाहित होता है। मेघदूत की पंक्ति में कालिदास की आत्मा रम रही है। राम चरित मानस की चौपाई में तुलसीदास के जीवन की छाप है। कालिदास और तुलसीदास का यथार्थ परिचय उनकी जीवन-कथा में विवादास्पद हो सकता है पर उनके काव्य में उन्हें देखा और समझा जा सकता है। काव्य में उनकी आत्मा परिचय के लिए उत्सुक है। कवि के यथार्थ दर्शन का स्थान उसका काव्य-मंदिर ही है। अन्यत्र वह इतनी आत्मीयता के साथ हमें दर्शन नहीं दे सकता। काव्य में उसका हृदय आवरण-हीन, उसका व्यक्तित्व आत्माभिव्यंजन की ओर उन्मुख रहता है। उसकी मधुर मूर्ति, उसके मन्द हास्य, उसकी तरल भावुकता, उसकी धारणाएँ, उसके आदर्श, उसकी अमर आत्मा के इंगित के रूप में वहीं सदा सर्वदा विराजमान हैं।

कविवर भूषण की भावों का अनुशीलन किये बिना ही उनके सम्बन्ध में जो धारणाएँ बनाने की चेष्टा की गई है, वे वस्तुतः सार-

हीन ही सिद्ध हुई हैं। उन्हीं के परिणाम स्वरूप किसी ने उनके काव्य को भद्दी कहा है, किसी ने उन्हें चाटुकार की पदवी से विभूषित किया है, किसी ने उन्हें थोथी संकुचित साम्प्रदायिकता का प्रेमी बताया है। किन्तु क्या सचमुच ही भूषण की वाणी में भावों का प्रवाह नहीं है? क्या यथार्थ ही वह एक आत्मप्रशंसा के इच्छुक नरेश की इच्छा-पूर्ति का साधन है? इसका पर्यवेक्षण करने के दो ही साधन हैं एक तो भूषण के सम्बन्ध में प्रचलित दन्त-कथाएँ, दूसरी उनकी कविता। एक तीसरा साधन भी है समसामयिक लेखकों की गवाही।

भूषण के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों के आधार पर तो इतना ही कहा जा सकता है कि वे प्रथम श्रेणी के स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनके अन्दर औदार्य भरा था। वे स्पष्ट-वक्ता थे। उनके ये तीनों ही गुण उनकी सचाई (Sincerity) के द्योतक हैं। जिस कवि के काव्य में आत्मा की झलक न हो वह अपनी कृति के प्रति सच्चा (Sincere) क्योंकर हो सकता है? उसकी रचना में भावों की सजीवता कैसे आ सकती है। भूषण ने शिवाजी को ही अपना आश्रयदाता क्योंकर चुना और क्योंकर उन्हें ही अपने काव्य का नायक बनाया तथा उत्तर भारत से चलकर सुदूर दक्षिण में जा पहुंचे। यह क्या उनके अन्दर अंकुरित हो रही उत्कट जातीय-भावना का परिचायक नहीं है? औरंगजेबी शासन में त्रस्त, अपमानित और प्रपीड़ित हो रहे हिन्दुत्व के प्रति इससे बढ़कर हिमायत का उदाहरण और कहां है? अपने भीतर उबल रहे ज्वालामुखी को लेकर भूषण का कवि-हृदय ही इतना बड़ा कार्य कर सकता है। अपने आदर्शों के अनुकूल नायक को पा कर भूषण को

वाणी धन्य हो गई है। उस समय की चरम राष्ट्रीयता का रूप यही हो सकता है। जो आजकल की राष्ट्रीयता के पैमाने से उस समय की राष्ट्रीयता को नापते हैं, वे परिस्थिति से अनभिज्ञता प्रकट करते हैं।

भूषण की रचनाओं में जैसा ओज है, उनकी भाषा में जैसा तीव्र वेग है, उनके हृदय में जैसा भयंकर उबाल है, उनके गुबारों में जितने स्फुलिंग हैं, वे इस बात के साक्षी हैं कि उनके वक्ष के भीतर प्रचंड ज्वाला जल रही थी। मुगल सम्राट ने हिन्दुजाति के जिन जिन मर्मस्थलों पर आघात् किये थे उनके निशान कवि के हृदय पर ज्यों के त्यों सुरक्षित थे। वही अवसर पाकर 'शिव को न देहरा न मंदिर गुपाल को' कहकर चुनौती देने के बहाने अपने आन्तरिक गुबार को निकाल देता है एवं 'लालियां मालिन सुपता-निर्वा सुजन की' के द्वारा हिन्दुपति की अपूर्व धाक के अतिरिक्त प्रपीड़ित प्रजा के प्रति एक आश्वासन है और उस से भी अधिक है भावी रामराज्य की ओर संकेत।

भूषण को यद्यपि धन और सम्मान उनकी कविता के कारण ही प्राप्त हुए थे, पर उनकी कविता का इतना ही उद्देश्य न था। धन और मान तो उनकी प्रतिभा के अनुयायी होने ही चाहिये थे, पर उनका ध्येय तो स्वार्थ की समतल भूमि से सदा ऊँचा ही रहा। इसी कारण उनके समस्त प्रयास जातीय जीवन में प्राण फूंकने एवं उसे बल देने में ही लगे रहे। जब सौन्दर्य और प्रेम की वीणा बजा बजा कर दूसरे कवि एक पददलित जाति के राग रंगमय विलासी जीवन के चित्र खींच रहे थे, उस समय भूषण ने अपनी ओजस्वी वाणी में भेरी-निनाद किया। उनके काव्य में मौलि-

कला के उपादानों की प्रचुरता है। प्रभात कालीन जागृति और जीवन के तत्वों से उनके काव्य का शृङ्गार हुआ है। उस में समय के प्रति क्रान्ति के बीज वर्तमान हैं।

समसामयिक लेखकों और कवियों में भूषण की ख्याति कम न रही होगी, इसका प्रमाण यही है कि वे तब से अब तक एक से लोकप्रिय हैं। किन्तु उनका विरोध उल्लेख उनके समसामयिकों में इसलिये भी अधिक नहीं मिलता कि वे उनकी मंडली से बिल्कुल पृथक खड़े हैं। किसी बात में इनका उनसे मेल नहीं खाता। इतिहासकारों में अधिकांश मुसलमान होने से उनसे भी हमारे इस जातीय कवि की प्रशंसा की आशा नहीं की जा सकती है। हमारा यह जातीय कवि अपने ही ढंग से निर्मित हुआ था, उसका काव्य भी अपने ही ढंग पर रचित हुआ और अपनी अपूर्व विशेषताओं के बलपर ही तब से अब तक सम्मानित होता आरहा है।

अपने शिवराज भूषण को अलंकार ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करने पर भी भूषण का प्रयास कलापक्ष को विशिष्ट पद देने का नहीं था। अपने भावों को प्रकाशित करते समय उन्होंने कला-पक्ष को सदा अवान्तर स्थान दिया है। एकान्ततः मौलिक प्रयास होने के कारण भी कला का समावेश करने में उन्हें कठिनाई पड़ी होगी। कला की प्रतिष्ठा अविरत साधना और एकांत संयम चाहती है। भूषण युद्ध-क्षेत्र के कवि हैं। उनसे अविरत साधना और एकांत संयम की आशा करना वृथा है। वीणा और सितार के सुमधुर स्वरों को झंकृत करने का उन्हें अवकाश कहाँ हैं? वे तो रण-भेरी पर मारू राग गाने वाले गायक हैं। उन्हें तो मुर्दों में प्राण फूंकना है। उन्हें तो जाति को जगाना है। वे तो कड़खैत की भाँति खड़े होकर,

ऊँचा हाथ करके राष्ट्रस्थानों की ओर संकेत कर रहे हैं। उनकी वाणी में रण-निमन्त्रण और युद्ध का आह्वान है। एवं उत्तर भारत की आत्मा को दक्षिण भारत का अनुकरण करने की प्रेरणा है।

भूषण की कविता में काव्यानन्द के साथ ऐतिहासिकता बड़े महत्व की वस्तु है। कहीं २ जहाँ इतिहास भी अंधकार में टटोल रहा है, वहाँ भूषण जीते-जागते चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। इनका ऐतिहासिक तथ्य-निरूपण बड़े महत्व की वस्तु सिद्ध हुआ है। मराठा इतिहास के आधुनिक विद्वानों ने भूषण के काव्य की इस विशेषता से पूरा लाभ उठाया है। युद्ध के सजीव चित्रों के लिये उन्हें इस कवि के वर्णन बड़े अनुकूल और प्रमाणित प्रतीत हुए हैं। तभी तो उसका शब्दशः अनुवाद अपने ग्रंथों में देने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ है।

इस प्रकार भूषण का हिन्दी साहित्य में स्थान निर्णय करते हुए उनकी समस्त विशेषताओं का विचार करना चाहिये। अन्यथा इस महा कवि के साथ पूरा न्याय नहीं हो सकेगा। केवल काव्य कला और साहित्य-शास्त्र की लीक पर अनुसरण करके उसकी यथार्थ महत्ता को नहीं समझा जा सकता है, जिसने विशाल मराठा साम्राज्य के निर्माण एवं जातीय जीवन को उन्नत करने में पूरा भाग लिया था।

कविवर जायसी

प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवियों ने हिन्दी-साहित्य को बहुत कुछ दिया है। भक्ति की साधना और वासना से ऊपर आध्यात्म प्रेम की पीड़ा से जिनका हृदय व्याकुल हो उठता है वे संगीत और माया-मय उद्गार संसार को दे जाते हैं, उससे जीवन-वसुन्धरा चिरकाल तक हरा-भरा रहता है। इस्लामी सभ्यता के रक्त-रंजित इतिहास में सूफ़ीमत एक ऐसा ही प्रयास है, जिसने आध्यात्म प्रेम की मादक मदिरा से अपने होंठों को लाल किया था और उसके मद में मतवाला बनकर एक अपूर्व संगीत कानों में डाल दिया था।

अरब और फ़ारस से भारत का सम्बन्ध होने पर यह कब सम्भव था कि भारत के धर्मों में सिर्फ़ फिर ही फिर पड़ता और इस्लाम के लिए अछूत रह जाता। महमूद गज़नवी के साथ सूफ़ी सन्तों का समागम भी अवश्यम्भावी था। तलवार और रक्तपात और धार्मिक विध्वंस के साथ प्रेम और मस्ती के तराने भी यहाँ आने से रुक नहीं सकते थे, न रुके ही। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में अरब और भारत गले नहीं मिल सके पर प्रेम और साहित्य-क्षेत्र में वे आलिंगन पाश में बँध गये। सूफ़ी मतावलम्बी जायसी में हम हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक कंठ से गाते हुए पाते हैं। उनमें कितना अंश हिन्दू है, कितना मुसलमान, इसका विश्लेषण करने चलें तो उसमें दोनों का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। जायसी को जिन्होंने पढ़ा है वे देख चुके होंगे कि जायसी सर्वथा

भारतीय सूफ़ी बन चुके थे। फ़ारसी सूफ़ी होकर वे कभी 'पद्मावत' की रचना न करते। इन जैसे प्रतिभा-शाली के लिए कथानकों की क्या कमी थी? भाषा और छन्द की ऐसी बड़ी बाधा न थी जिसे वे पार न कर सकते पर उनके सामने वह संकुचित दृष्टि न थी। वे भारतवर्ष में पाकिस्तान की कल्पना करने वाली दुनियाँ में न बसते थे। उन्होंने अपने स्वाभाविक रूप में अपने प्राणों का संगीत गाया है। उनके संगीत में उनके हृदय और उनकी आत्मा की झलक है। उनकी तीव्र अनुभूति उनके काव्य में सभी बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके व्याप्त हो रही है, इसलिए प्रबन्ध-काव्य होकर भी पद्मावत भाव-प्रधान काव्य है। जायसी ने भाव पक्ष पर विशेष बल दिया है। सीधी-सादी ग्रामीण भाषा और सरल सुबोध छन्द को चुनकर उन्होंने यह बता दिया है कि कला और कवित्व कवि में रहते हैं। वह किसी भी सामग्री से अपनी प्रतिभा के द्वारा क्रान्त-दर्शी साहित्य की सृष्टि कर सकता है।

पद्मावत जैसे रत्न का प्रादुर्भाव करके हिन्दी-साहित्य को जायसी ने सूफ़ी सम्प्रदाय का चिरऋणी बना लिया है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना में कई बातों में इसी ग्रंथ को अपने दृष्टि-पथ में रखा है। काव्य टेकनीक के दो चार दोषों के रहते हुए भी पद्मावत संत कवि जायसी की अनमोल भेंट है। मिलनोत्कंठा एवं विरह-वर्णन में जायसी ने जो प्रतिभा दर्शाई है वह बड़े बड़े कवियों में मिलनी कठिन है। प्रिय के लिए इस तड़पन ने जायसी को आत्मा और परमात्मा के अद्वैत की ओर प्रेरित किया है, यहीं इनके रहस्यवाद का जन्म होता है। यह रहस्य-वाद इनकी एक विशेषता है, और इनकी आध्यात्मिकता

का सुन्दर प्रतीक है। जीव और ईश्वर, सृष्टि और जगत् के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत गहरी डुबकियाँ लगाई हैं। यद्यपि जीवन के व्यापक क्षेत्र को उन्होंने अपने काव्य का विषय नहीं बनाया है पर जो क्षेत्र उनके सामने आगया है उसकी व्याख्या में सदा बड़ी सचाई से काम लिया है। अलंकारों की योजना में भी वे जीवन की व्याख्या को भूले नहीं हैं। जिसके फलस्वरूप वे शब्दालंकारों के शब्दाडम्बर में पड़ने से बच गये हैं।

पद्मावत के कवि जायसी अखरावट में दार्शनिक विचारक बन गये हैं। यद्यपि उनकी दार्शनिकता के बीज पद्मावत में ही परिपक्व हो चुके हैं। प्रेम-कथा के लौकिक पक्ष का सरसता से निर्वाह करते हुये भी वे उसके आध्यात्मिक पक्ष पर बल देते रहे हैं। काव्य-साहित्य की दृष्टि से यह आवश्यक भी था कि वे लौकिक पक्ष की मधुरिमा कायम रखते, पर लौकिक प्रेम ही चरम लक्ष्य न होने से उन्हें अपने सिद्धान्तों की माया-प्रतिष्ठा के लिए भी प्रयत्न करना पड़ा है, और काव्य का उपसंहार करते समय उन्हें इस ऐतिहासिक प्रेम-कथा को भी एक रूपक बनाकर अपने कवि और अपने ऐतिहासिक का सामञ्जस्य स्थापित कर देना पड़ा है। कलाकार और विचारक दोनों को एक मूर्ति में गढ़ देना पड़ा है। अखरावट उनके इस काव्य की उत्तरवर्ती रचना है। प्रेम-कथा उसका आधार नहीं है। इसलिए उसमें लौकिक की असारता मुख्य नहीं आध्यात्मिक उपलब्धि का सार मुख्य है। उसमें जायसी विचारक के रूप में हैं, कलाकार के रूप में नहीं।

———

उन्हें प्रेमी वैष्णव भक्तों के स्वर में गाते सुनते हैं—

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठ चुन्यों करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यों करैं।
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यों करैं।
नैनन में जो सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यों करैं।

कौन कहेगा कि इन पंक्तियों के रचयिता अपने को भारतीय मिट्टी से बना हुआ नहीं मानते थे? इतनी तन्मयता से कुंज-केलि की याद में कौन व्याकुल हो सकता है? सत्य तो यह है कि कला और साहित्य में जाति-पाँति का भेद एक नगण्य बात है। वहाँ तो प्रत्येक सहृदय के लिए द्वार खुला है। वहाँ रंग-रूप और कुल-शील से नहीं, हृदय की बेकली से ऊँचा नीचा पद निर्धारित होता है।

आलम और शेख सगुण परंपरा के कवि थे। वे प्रेमी-गृहस्थ थे। साधु-सन्यासी नहीं। इस लिए उनमें भक्ति-विह्वलता का उन्मेष नहीं, प्रेम का उन्माद ही विशेष था। उनकी वाणी में, उनकी काव्य-कला में आध्यात्मिक साधना की खोज उस भाँति नहीं करनी चाहिए जिस भाँति सूर और तुलसी आदि में करते हैं सूर-तुलसी विरक्त तपस्वी और अनन्य साधक थे। घर-बार, नाता-गोत्र सब कुछ त्यागकर वे भागवद्भक्ति में लवलीन हो चुके थे। आलम और शेख लौकिक प्रेम और वासना की दुनियां में बसने वाले एवं काव्य-साहित्य और कला में पारंगत थे। उनकी रचनाओं में अध्यात्म पक्ष की जो थोड़ी बहुत झलक है वह उस युग की उस परंपरा की विशेषता है जिसका संपर्क उन्हें प्राप्त था।

वे कवि थे, साधक नहीं, और कवि के गुण उनमें विद्यमान थे। युक्त हृदय था। प्रेमी स्वभाव था। कलाको पहचानते थे।

तन्मयता से परिचित थे। काव्य के मधुवन में कोकिला के आवेग के साथ वे पंचम-स्वर में गाने के कौशल के उस्ताद थे। हृदय-वेदना की मर्मानुभूति में आकंठ मग्न होकर उन्होंने जो दिल के फफोले फोड़े हैं उन्हें वे चटकीली भाषा में व्यक्त भी कर पाये हैं। इसलिए उनका महत्व है। वे हृदय को अनुभूति का रस पिला सके हैं। उनकी रचनाओं में काव्यकला का माधुर्य मिलता है जीवन की विस्तृत व्याख्या में वे प्रवृत्त नहीं हुए हैं। उन्होंने जीवन को कलाकार की कूची के हलके स्पर्श से जहाँ तहाँ छू भर है।

प्रेम और भक्ति को योग और भावना के ऊपर स्थापित करने की जो वैष्णव परम्परा प्रचलित हो रही थी उसीका अनुकरण करने में उन्होंने अपने वाणी-विलास को सार्थक किया है। निर्गुण सत्ता के ऊपर सगुणोपासना को ठहराने में कोई नौसिखता न थी, पर युग की प्रधान भावना होने के कारण उस समय के अधिकांश कवि इसी ओर अधिक प्रभावित हुए। प्रेम जैसी मधुर-मोहन प्रवृत्ति को योग के शुष्क-कठिन साधनों पर विजय पाते देख किसे गोपिका बनकर विरह-निवेदन करना भला प्रतीत न होगा? आलम और शेख में तो प्रतिभा भी थी। इसीलिए उन्हों ने वैष्णव-भक्तों की प्रेम-पीड़ा को खूब अच्छी तरह दरसाया है, और प्रेम को लौकिक एवं वासनात्मक स्तर से शुद्ध-शुद्ध ऊँचा उठाने का सफल प्रयास भी किया है। उनके स्फुट काव्य का जो अंश प्राप्त होता है उससे उनकी ये विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त होती हैं।

———

पर रुलाया, तड़पाया औ रस-मग्न बहुत कम किया है। शब्द और अर्थ की खिलवाड़ में उन्होंने काव्य के केवल बाह्य कलेवर का स्पर्श किया है। उनकी 'रामचन्द्रिका' में और उनकी 'कविप्रिया' एवं 'रसिक प्रिया' में भी उनका बहिरंग ही प्रदर्शित हुआ है। शायद राजदरबार की भीड़भाड़ में अन्तरंग की ओर उन्मुख होने की उन्हें प्रेरणा ही नहीं हो पाई। उन्होंने कहीं भी हृदय का मस्ती को छन्दों की रागिनी में नहीं गाया।

इतना होने पर भी आश्चर्य है कि सदा से वे बड़े-बड़े कवियों के साथ याद किये जाते रहे हैं। हिन्दी के नवरत्नों में भी केशव मिल जाते हैं और नवरत्नों में भी। सूर और तुलसी के साथ भी उनका नाम लिया जाता है। उसका कारण सम्भवतः यही है कि वे पाठक को अपनी विद्वत्ता से अभिभूत कर लेते हैं। कवित्व की कमी को अनुभव करने से पहले ही उनकी विद्वत्ता की छाप पड़ जाती है। दूसरे वे रीतिकाल के प्रतिष्ठापक हैं। सूर और तुलसी को भी इतने अनुयायियों का सौभाग्य न मिला जितना केशव को। कबीर, सूर और तुलसी आदि की कला आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि पर चित्रित है। उसमें वासनात्मक भावावेश को कम स्थान है। केशव के यहाँ विशुद्ध सांसारिकता का साम्राज्य है। वे प्रेम और सौंदर्य को मांसल बनाकर दिखाते हैं। उनका काव्य लौकिक-जीवन का अलंकृत चित्र है, और इन्द्रियता के भावों से ओतप्रोत, पर भाषा की दुरूह घाटी में उनके काव्य का यह रूप भी सार्वजनीन नहीं होने पाया। केवल कवि ही उससे अनुप्राणित हुए साधारण लोग नहीं। तीसरा एक और बड़ा कारण है जिसने केशव के भक्तों और अनु-यायियों की संख्या को कम नहीं होने दिया। वह है कविता-द्वारा

का रस निचोड़ा है। उनकी वाणी में जैसा अबाध प्रवाह है, उनके प्रेम में जैसी अनन्यता है उनकी प्रतिभा में वैसा ही चमत्कार है। केशव की भाँति भावुकता शून्य आलंकारिक-बंधान बाँधने में उनकी प्रवृत्ति बिलकुल नहीं लगती है। रसखान के यहाँ तो सब कुछ प्रेम ही प्रेम और रस ही रस है। एकान्त और अनन्य प्रेम के पुजारी रसखान ने मानव-हृदय की हिलोरों को अपनी कविता में लहराया है। उनकी वाणी में मानव-हृदय की शाश्वत अनुभूतियाँ हिमालय के बर्फ की तरह गलगल कर बह रही हैं जिनसे लोक-जीवन और लोक-हृदय निरन्तर रस-सिंचित हो रहा है। अबतक उस पवित्र मन्दाकिनी के सुनिर्मल प्रवाह में कितना जगत अवगाहन कर चुका है! पर आज भी उसकी माधुरी वैसी ही बनी हुई है। अनेक बार गा-सुनकर भी जिह्वा और कान क्या कभी तृप्त हुए हैं, क्या वे इसे फिर गाना और सुनना नहीं चाहते?

या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख
नन्द की गाय चराय बिसारौं।
'रसखानि' कबौं इन आँखिन सों
ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम
करील के कुञ्जन ऊपर वारौं।

यही कुञ्ज और यही बंशीवट 'रसखान' की आँखों में निरन्तर छाये रहते थे। जहाँ गोपियों और राधा के साथ नटनागर कृष्ण ने रास-क्रीड़ा की थी, जहाँ तमाल और कदम्ब के नीचे बैठ कर

महाकवि देव

हिन्दी के शृंगारी कवियों में महाकवि देव का आसन कई दृष्टियों से बहुत ऊँचा है। उनमें सच्चे कवि की प्रतिभा के साथ साथ ऊँचे दर्जे की विद्वत्ता भी है। उनका क्षेत्र भी अन्य शृंगारी कवियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। उन्होंने आलंकारिक शैली को अपना कर भी जीवन की व्याख्या की ओर अपनी दृष्टि रक्खी है। उनके काव्य में जीवन के व्यापक चित्र की ओर प्रयास है। गहन-गूढ़ शास्त्रीय तत्व-ज्ञान में उनकी पैठ है। सामाजिक वर्गवाद का उन्हें ज्ञान है। ऋतुओं और रीतियों की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। मानव-जीवन और मानस-शास्त्र की बारीकियों को वे समझते हैं। अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करके उन्होंने अपनी सर्वतो-मुखी प्रतिभा का अच्छा प्रमाण दिया है। इस सब के होते हुए भी उनका कवि प्रमुख है। इसी कवि की प्रमुखता के कारण वे कुछ दुरूह होते हुए भी हिन्दी के कलाकारों में अग्रगण्य हैं? उनकी भाषा में सर्वत्र सुकोमल मृदुता नहीं है। गहन-गम्भीर विचारों और भावों के अनुकूल उनकी भाषा भी यथास्थान वैसी ही पांडित्य पूर्ण शब्द-चमत्कार से युक्त है। उनके काव्य में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जहाँ भाषा का माधुर्य-गुण और प्रसादगुण युक्त रूप मिलता है। केवल वचनों और भाव की गम्भीरता ही इनका वैशिष्ट्य नहीं है, वरन अनुभूति और भावावेश में भी वे दूसरे कवियों से एक पग पीछे नहीं हैं। राधाकृष्ण को उपलक्ष मानकर

इन्होंने दाम्पत्य-प्रेम और विरह का जैसा वर्णन किया है, वह अपूर्व है। उसे पढ़ने से इनके हृदय की तल्लीनता और रसिकता का पता लगता है।

प्रेममार्गी आलंकारिक कवियों की भक्ति में सांसारिक प्रेम की मूर्ति की ही प्रतिष्ठा हुई है। भक्ति का केवल एक झीना आवरण डाल कर अध्यात्मवाद का आडम्बर किया है। कविवर देव भी इसके अपवाद नहीं हैं। किन्तु स्वाभाविक गम्भीरता ने उन्हें सांसारिक असारता का ज्ञान भी कराया है। जीवन भर शृंगार और प्रेम में डूब कर, अन्ततः उन्हें पश्चात्ताप करते देख, पाठक को उनकी मनोदशा में जगत् की असारता की छाया मिलती है, और प्रतीत होता है कि उन्होंने जीवन के परिणाम को भी उसी तन्मयता से अनुभव किया है।

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनी,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारा दै गरे सों बाँधि,
राधावर-बिरद के बारिधि में बोरतो।

× × ×

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

के अंतरतम सरस चित्र खींचे हैं, परन्तु उन चित्रों में जैसे उनका अध्यात्म बोल रहा है। वासना की गंध उनमें नहीं है।

इससे यह तात्पर्य नहीं है कि आध्यात्मिक भावना के ओत-प्रोत होने से ही कविता का उत्कर्ष-साधन होता है, लौकिक भावनाएँ उसके पद को गिरा देती हैं। जीवन में तो लौकिक और आध्यात्मिक दोनों को स्थान है, और लोक-जीवन तो लौकिक को लेकर ही बना है। उसे बनाये रखने के लिए तो उसी का विशेष प्रयोजन है। आध्यात्मिक उत्कर्ष व्यक्तिगत साधना है। लौकिक समष्टि और व्यष्टि दोनों को लेकर चलता है। इसलिए काव्य लौकिक भावनाओं के व्याख्यान में प्रवृत्त हो तो अच्छा ही है। ऐसा होने पर ही उसे कला का वास्तविक रूप प्राप्त होता है। किन्तु वे लौकिक भावनाएँ जीवन को उठाने में सहायक होनी चाहिए। हमारे शृंगारी कवियों ने काव्य को लौकिक भावनाओं से तो खूब सजाया है पर जीवन की गतिशीलता पर वे विषम परिस्थितियों के कारण, विशेष ध्यान न देने पाये। फलतः उनकी कला चमत्कार-प्रदर्शन होते हुए भी जीवन फूँकने वाली न हुई।

कबीर तथा दादू की वाणी में हम देखते हैं कि उन्होंने मानव-जीवन और मानव-हृदय के भीतर से [illegible] बातों को कैसी [illegible] से व्यक्त किया है। [illegible] मनुष्य-स्वभाव का कैसा [illegible] अनुभव था! [illegible] बातों की मूर्ति खड़ी कर देने में उनकी [illegible] का [illegible] दर्शनीय है।

[illegible]

[illegible]

कौल में चांपि के चौंस पतंग के
'देव' सुसंग पतंग को लीने।
मोम के मंदिर माखन के मुनि
बैठे हुतासन आसन कीने।

इस प्रकार कविवर देवदत्त ईर्ष्या के योग्य प्रतिभा लेकर पैदा हुये थे। यदि ये रीतिकाल में न होकर किसी अन्य काल में हुए होते तो इनका काव्य जीवन के अधिक समीप होता, प्रिया-प्रियतम के हास-रास में ही निमग्न न रहता। रीति-कालीन कवियों में तो ये निश्चय ही आदरणीय स्थान के अधिकारी हैं।

मैथिल कोकिल का वाणी-विलास

कविवर विद्यापति भाषा के 'जयदेव' कहे गये हैं। इसीसे स्पष्ट है कि उनकी वाणी का माधुर्य अपार है, उन्होंने जीवन में मधुर रागिनी की ऐसी गूँज भर दी है, जिससे अन्तरंग और बहिरङ्ग सभी कुछ शर्बती बन गया है। शब्दों की ऐसी सुकलित योजना एवं संगीत के स्वरों में बँधी हुई कंठ-ध्वनि और किसी दिशा से आती हुई सुनाई नहीं पड़ती। यही क्यों, उनकी सुललित शब्द-योजना और मधुर मादक वंशी-ध्वनि भावों से अतिशय स्निग्ध हो रही है। इन्हीं विशेषताओं के कारण लोकमत ने एक स्वर से इन्हें मैथिल-कोकिल की उपाधि से विभूषित किया है। मैथिल जीवन की सम्पूर्ण सरसता से उनकी कविता रसवती हो रही है। पर सौ वर्ष के बाद आज भी मैथिल-प्रदेश का समस्त वातावरण इस महाकवि के गीतों में गुनगुनाता है, और उसी की भाव-धारा में तल्लीन हो रहा है। एक भक्ति के उद्रेक से विह्वल हो रहा है तो दूसरा दाम्पत्य प्रेम की सुधा में निमज्जित हुआ जाता है। तीनों प्रधान रसों, शृंगार, वीर और शान्त, में विद्यापति के काव्य का उत्कर्ष देखा जाता है, तो भी उनका शृंगारिक गीति-काव्य प्रधान है। जिस प्रकार मानव-जीवन शृंगार-प्रधान है, उसी प्रकार विद्यापति का काव्य भी। यह मानव जीवन — [illegible] जीवन का सर्वांग और आवश्यक पहलू है।

[illegible] उत्कर्ष में सहायता [illegible] और इसकी [illegible] पर [illegible]

की व्यंजना में कवि के कौशल की परख होती है। विद्यापति की रचनाओं से इस बात का पता लगता है कि वे कैसे कुशल कलाकार हैं।

संगीत उनकी रचनाओं की एक मार्मिक विशेषता है। इनके पदों की संगीतमयता को देखते हुए प्रतीत होता है कि वे इस कला के मर्मज्ञ थे। बिना उसके मर्म को जाने संगीत-जैसी ललितकला में विदग्धता प्रदर्शित करना कैसे सम्भव हो सकता है? जो लोग संगीत के ताल-सुर से पूरी तरह परिचित नहीं हैं, और उनके स्वर-स्वरूप का पूरा ज्ञान नहीं रखते, केवल अक्षरों और मात्राओं के आधार पर विद्यापति के पदों की परीक्षा करते हैं वे उनमें कहीं-कहीं छन्दोभङ्ग समझ लेते हैं, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। उनके पद संगीत के सुरों में बँधे हुए हैं।

विद्यापति की कोमल-कान्त पदावली ने, जिसके लिए वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, इस संगीत में मिश्री घोल दी है। भाषा के माधुर्य ने संगीत की कोमलता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। पदों में कोई भी पद ले लीजिए शब्द-योजना जूही के फूलों की तरह सुकुमार और दर्शनीय है। इस में सन्देह नहीं कि जिस भाषा में कवि ने अपने मधुर पदों की रचना की है, वह उस कोटि की भाषा है जिसमें माधुर्य विशेष है। विद्यापति ने उसमें अधिक से अधिक लालित्य डाला है, इसी में उनकी विशेषता है। शब्द-चुनाव का ऐसा सुन्दर प्रकार उनकी वाणी में है कि सुनकर हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। उनके पदों ने संगीत को समुन्नत कर दिया है। उनके शब्दों के माधुर्य ने कोकिल की काकली का आनन्द

नहीं देखा जाता। विद्यापति का विरह-वर्णन प्रेमिका के हृदय की तस्वीर है—उसमें वेदना है। व्याकुलता है। प्रियतम के प्रति तल्लीनता है।" यही क्यों उनके मिलन और प्रेम-निवेदन आदि में भी वही तन्मयता है। देखिये—

सुन्दरि चललिहु पहु घर ना।
चहुँ दिस सखि सब कर धर ना।
जाइतउ लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना।
जाइतह हार टुटिए गेल ना।
भूखन बसन मलिन भेल ना।
रोए रोए काजर दहाए देलना।
अदकँहि सिंदुर मिटाए देलना।
भनहि विद्यापति गाओल ना।
दुख सहि सहि सुख पाओल ना।

× × ×

कर धरु करु मोहि पारे।
देब मैं अपरुब हार, कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेली।
न जानु कओन पथ भेली, कन्हैया।
[illegible]

कन्हु दीपक थाटे, कन्हैया।
बिहरति एहो भने।
कुसुमि मधु मधने, कन्हैया।

विद्यापति के काव्य में उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सूक्ष्म मनोविश्लेषण गूढ़ है। यहाँ बालिका और मानवती के मनुष्य की मनोदशा का चित्रण किया गया है। मानव जीवन के अन्तर्दर्शन बिना इस प्रकार की अनुभूतियों को मनोरंजन और काव्य का विषय बना लेना सहज नहीं है। कवि की अन्य कृतियों की भाँति जब हम उनके मनोविश्लेषण को उनकी प्रतिभा के एक स्वाभाविक प्रकाश के रूप में देखते हैं तो उनका काव्य हमारे निकट और भी मूल्यवान हो उठता है। शृङ्गार और प्रेम की दिशा में विद्यापति ने परवर्ती कवियों के लिये बिजली का प्रकाश प्रस्तुत कर दिया है। उनकी काव्य-माधुरी की छाया छूने के लिए कवियों ने अनवरत प्रयास किया, परन्तु उनकी समस्त विशेषताओं का स्पर्श शायद कोई न कर सका। ब्रज के वैष्णव कवियों में उनके पदचिन्हों का अनुसरण अवश्यमेव मिलता है। भक्ति की प्रेम-सञ्जीवनी ने उनके रोम रोम में जो आवेग भर दिया था, उसी को अपने काव्य में उन्होंने बहाया है। इसी उन्माद के कारण उनका काव्य इतना प्राणमय है। विद्यापति की काव्य-प्रतिभा भी भक्ति से अनुप्राणित है, पर उसमें वासनात्मक-प्रेम की प्रतिष्ठा ही मुख्य है। उनके काव्य में मानव-मन का ही व्याख्यान हुआ है। दरबारी-कवि होने के कारण पूत-पावन भक्ति का उद्रेक उनके काव्य का आधार नहीं है। फिर उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने पदों में राजा शिवसिंह और लखिमा रानी के केलि-विलास का उल्लेख करके अपनी अमरवाणी को नर-

नहीं देखा जाता । विद्यापति का विरह-वर्णन प्रेमिका के हृदय की तस्वीर है—उसमें वेदना है । व्याकुलता है । प्रियतम के प्रति तल्लीनता है ।" यही क्यों उनके मिलन और प्रेम-निवेदन आदि में भी वही तन्मयता है । देखिये—

सुन्दरि चललिहु पहु घर ना ।
चहुँ दिस सखि सब कर धर ना ।
जाइतहु लागु परम डर ना ।
जइसे ससि काँप राहु डर ना ।
जाइतहि हार टुटिए गेल ना ।
भूखन बसन मलिन भेल ना ।
रोए रोए काजर दहाए देलना ।
अदकँहि सिंदुर मिटाए देलना ।
भनहि विद्यापति गाओल ना ।
दुख सहि सहि सुख पाओल ना ।

× × ×

कर धरु करु मोहि पारे ।
देब मैं अपरुब हारे, कन्हैया ।
सखि सब [illegible] ।
न जानु कओन पथ भेली, कन्हैया ।
हम न [illegible]

कंज, वदन, भुज [illegible]
कत दिन [illegible] सिधि जाय।
पहिल पहिल पुनि [illegible]
[illegible] गाय।
तन [illegible]
[illegible] विद्यापति [illegible]
[illegible]
विद्यापति कवि [illegible]

अपनी प्रार्थनाओं और नचारियों में तथा वीररस की कविता में भी विद्यापति अपने स्वाभाविक ओज और गतिशीलता एवं तादात्म्यता को बनाये रखते हैं, इसीलिये भक्त उनके भक्ति के पदों को गाते गाते विह्वल हो उठते हैं। वीरों के भुजदण्ड उनकी वीर कविता-पाठ से फड़कने लगते हैं, दुर्गा की स्तुति में उनकी भक्ति और वीरता दोनों की स्फूर्ति है—

कनक भूधर-शिखर वासिनि
चन्द्रिका चय चारु हासिनि
दशन कोटि विकास, बंकिम
तुलित चन्द्रकले।

क्रुद्ध सुररिपु बल निपातिनि
महिष-शुम्भ-निशुम्भ-घातिनि
भीत-भक्त- भयापनोदन—
पाटल-प्रबले।

संत कबीर की वाणी

सार सार कबिरा कही,

सूर। कही अनूठी ।

बची-खुची तुलसी कहे,

और कही सब जूठी ।

संत कबीर की वाणी के संबन्ध में प्रचलित लोकमत को ज़रा यों रख देना कुछ सचाई रखता है । सचाई इस अर्थ में कि कबीर ने विचारणीय समस्त समस्याओं पर बहुत अच्छे ढंग से कह दिया है । समाज और जाति के सामूहिक जीवन में जो कुछ अवांछनीय आपड़ा है, जो जटिलताएँ उत्पन्न होगई हैं, उनके सम्बन्ध में गहराई से और मौलिक दृष्टिकोण के साथ विचार करने में कबीर एक ही थे । जीवन-मरण, लोक और परलोक, समाज और सद्य की चिन्ता के साथ सामाजिक और व्यावहारिक जीवन पर इतनी सूक्ष्मता से विचार करने के कारण वे 'जीवन के सारतत्व के व्याख्याता' के नाम से प्रसिद्ध हैं । इस रूप में उनका जो आदर-सत्कार और सम्मान है उसके वे सर्वथा अधिकारी हैं । अपने पैतृक पेशे में ताने-बाने को बुनते हुए, उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के [illegible] शरीर और आत्मा के ताने-बाने का [illegible] कोमल [illegible]

में उनकी मननशीलता की ऐसी छाप है जो कहीं नहीं मिल सकती। उसमें भाषा का विशेष आडम्बर नहीं है, केवल विचार और भाव-व्यंजना है। देखिये—

माली आवत देखिके, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, कालि हमारी बार॥

\+ + + +

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजे और ठगे दुख होय।

\+ + + +

निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करत सुभाय।

\+ + + +

जो तोकू काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोकूँ फूल के फूल हैं, वाको है तिरसूल॥

\+ + + +

पात झरंता यों कहै, सुन तरुवर बनराय।
अबके बिछुरे ना मिलें दूर पड़ेंगे जाय।

\+ + + +

माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँधै मोहि।
इक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँधूगी तोहि।

\+ × + +

झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।

\+ + + +

जितना महत्व दिया जाय थोड़ा है। तेमी अन्तर्दृष्टि के साथ प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करने और उनमें आवश्यक सुधार के लिये प्रयत्नशील होने तथा अनेक विरोधों के बावजूद सफलता पूर्वक अपने कार्य को निभा ले जाने में उनकी कुशलता का अन्दाज लगाया जा सकता है। उनका बाहर-भीतर एक रंग मे रँगा हुआ था। इसीलिए उन्हें विरोध की परवाह न थी। उन्होंने अपनी वाणी में अपने विचारों को निर्बाध आने दिया है। हिन्दुओं के गढ़ काशी मे हिन्दू-धर्म के नाम पर प्रचलित और परिपोषित पाखण्डों का खण्डन करने में वे कभी नहीं हिचके। इसी प्रकार मुसलमानी सल्तनत की कमजोरियों पर खुले आक्षेप करने से भी नहीं चूके। सत्यान्वेषी कबीर के लिए धर्म और मतों की यह कटुता असह्य थी। चरित्र की असीम दृढ़ता और निर्भीकता का निदर्शन उनकी वाणी का सबसे पहला और प्रमुख उद्देश्य था। ईश्वर और धर्म के नाम पर स्वार्थपरता को वे कैसे सह सकते ? उन्होंने जीवन भर उसका घोर विरोध किया। अपनी साधना, तपस्या और अपने आचार पर परम विश्वस्त होने के कारण कहीं पर हम उनमें दीनता नहीं देखते हैं। वे सम्राट् सिकन्दर लोदी के सामने भी वैसे ही दृढ़ रहे और काशी के पंडितों के सामने भी। विचार-जगत में भी वे हिमालय की दृढ़ता से आसीन हैं। ईश्वर की सत्ता पर उन्हें असीम विश्वास है। वे बड़े बल के साथ कहते हैं—

> जाको राखै साइयाँ, मार न सकि है कोय।
> बाल न बाँका [illegible]

जो लोग संत कबीर को आचार्य केशवदास की पाठशाला में भेज कर पढ़ने छन्द और अलंकार शास्त्र का ज्ञान कर लेने की सलाह देते हैं वे उनकी नैसर्गिक प्रतिभा का उचित आदर नहीं करते। कबीर ने स्वयं कागद और मसि तक न छूना स्वीकार किया है। और अपने को बार बार 'काशी का जुलहा' कहकर पण्डितों की श्रेणी से भी अलग कर लिया है। यह सब होते हुए भी उन्हों ने अलौकिक प्रतिभा के बल से अपनी वाणी को ऐसी अन्तर-स्पर्शिनी बनाया है कि देखते ही बनता है। इसी सहज प्रतिभा ने उन्हें विचारक से कवि के ही नहीं एक महाकवि के आसन पर ला बिठाया है। श्रीयुत रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है, यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। उनकी कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं, संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान संदेश दिया है। उस संदेश का ढंग अलंकार से युक्त न होते हुए भी काव्य-मय है। कई समालोचक कबीर को कवि ही नहीं मानते, क्योंकि वे कभी कभी सही दोहा तक नहीं लिखते और अनुप्रास जैसे अलंकारों की चकाचौंध पैदा नहीं कर सकते। ऐसे समालोचकों को कबीर की समस्त रचनाएं पढ़कर उनके कवित्व की थाह लेनी चाहिये। मीरा में भी काव्य-साधना है, पिंगल नहीं है। फिर क्या मीरा को कवि के पद से बहिष्कृत कर देना चाहिए? कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में है। यह विवे-

॥ कबीर में पर्याप्त है अत वे एक महान कवि हैं। वे भावना

कोई संशय नहीं रह जाता। उनकी प्रतिभा का कायल होना ही पड़ता है। हम यहाँ उनके ऐसे पद देते हैं जिनसे पाठकों को कबीर की वाणी के काव्यमय पहलू का भी आभास मिल जायगा :

बालम, आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी।
मोको यह सन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै।
तब लग कैसा नेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै।
गृह-बन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी को काम पियारा,
ज्यूँ प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी,
हरि सूँ कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं।
बिन देखे जिव जाय रे।

× × × ×

घूँघट का पट खोल रे
तो को पीव मिलेंगा।
घट घट में वोहि साँई रमता
कटुक बचन मत बोल रे।
धन जोबन का गरब न कीजै
[illegible]

है। दार्शनिकों में कवित्व और कवियों में दार्शनिकता इसी का प्रत्यक्ष प्रमाण है। निर्गुणवादी कबीर भी इन दोनों का सुंदर समन्वय हैं। उनके इसी दार्शनिक भावयोग में उनके रहस्यवाद का मूल है। इसमें वैष्णव, सूफ़ी और अद्वैत का ताना-बाना मिल कर एक होगया है। आत्मा और परमात्मा के बीच की 'ठगनी माया' अद्वैत की उपलब्धि है। आत्मा में परमात्मा की लगन का भाव पैदा करने वाले 'गुरु' सूफ़ी मत की धरोहर है, और कान्ताभाव से परमात्मा के लिए प्रेम-विह्वल होना वैष्णव विधि है। इसी प्रकार इस क्षेत्र में भी कबीर का दृष्टि-कोण मौलिक न सही पर समन्वयात्मक है।

कबीर से पूर्व हिन्दी साहित्य भावभूमि की उस उच्चता पर नहीं पहुँचा था, जहाँ आध्यात्मिक रहस्यवाद का जन्म होता है। रहस्यवाद वह आध्यात्मिक अनुभव है जिसमें साधक असीम अज्ञात शक्ति को अपने में प्रतीत करने लगता है। वह प्रतीति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक और इतनी अनिर्वचनीय होती है कि उसे वाणीबद्ध नहीं किया जा सकता। भाषा और भाव का साधन उस लोकातीत अनुभूति के लिए किसी प्रकार पर्याप्त नहीं। इसीलिए अन्तर्दर्शी और पहुँचे हुए महात्माओं की वाणी का सदा भाषा के लौकिक धर्म से काम नहीं चलता। उनके इंगित और अटपटे वचन चिल्ला चिल्ला कर पुकारते हैं, कि हमने जो कुछ देखा है वह लौकिक साधनों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह तो 'गूँगे की शक्कर' की भाँति है, जो केवल स्वयं अनुभूति से ही समझा जा सकता है। इन्हीं कारणों से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में रहस्यवादियों को सहा [illegible] रहा है।

जो लौकिक जीवन में उस आध्यात्मिक सुधा-रस का रसास्वादन करा सकें अथवा यों कहें कि रहस्यवाद का रहस्योद्घाटन करने के लिए रूपकों की भाषा से बढ़कर कोई दूसरी भाषा नहीं है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि उस भाषा के वास्तविक अर्थ अनुभव-गम्य ही अधिक है वर्णनीय कम। कबीर भी ऐसे स्थलों पर रूपकों में ही बोलते हैं। देखिये—

जल में कुँभ, कुँभ में जल है,
बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुँभ, जल जलहि समाना,
यह तथ कथ्यो गियानी।

\+ \+ \+ \+

हरि को बिलोवना बिलोवहु भाई,
ऐसे बिलोय जाते तत न जाई।
तन करि मटुका मनहि बिलोई,
ता मटुकी में पवन समोई।
इला पिंगुला सुषमन नारी,
बेगि बिलोइ ठाढ़ी छछिहारी।
कहै कबीर गुजरी बौरानी,
मटुकी फूटी जोति समानी।

× × × ×

दरियाव की लहर दरियाव है जी
दरियाव औ लहर में भेद कोयम
[illegible]
[illegible]

अब मोहि ले चल नणद के वीर
अपने देसा
इन पंचन मिलि लूटी हूँ
कुसंग आदि बिदेसा
गंग तीर मेरी खेती बारी
जमुना तीर खरिहान
सातो बिरही मेरे नीपजै
पंचूं मोर किसान
कहै कबीर यह अकथ कथा है
कहता कही न जाई
सहज भाइ जिह ऊपजै
ते रमि रहे समाई ।

× × × ×

सायर नहिं देखा निमाई
गुरु बिना हरि-भजन किया न जाई
सीया चाहै सो ले लाग भारी
डार न सहै दोऊ सम भारी
ढूँढ़ा फिरै सारी [illegible]
[illegible] बिन [illegible] [illegible] [illegible] नारी
कहै कबीर [illegible]
[illegible]

सूरदास के अमर पद

संत-परम्परा और भक्ति-भावना की दृष्टि से प्राचीन हिन्दी-काव्य-साहित्य विश्व-साहित्य में सब से पृथक् खड़ा है। हिन्दी के लिए यह विधाता की ऐसी देन है जो संपन्न से संपन्न साहित्यों के हेतु ईर्षा की वस्तु है। विश्व-साहित्य के महारथियों ने जो उद्गार हिन्दी के साथ अन्य साहित्यों की तुलनात्मक समीक्षा करते समय [illegible] व्यक्त किए हैं, उनसे हमारे उपरोक्त कथन का समर्थन होता है। इस संत-परम्परा और भक्ति-साहित्य में इतना क्या आकर्षण है, जो विद्वज्जनों का ध्यान अपनी ओर खींचता है? इसका उत्तर दो शब्दों में देने का यत्न करें तो यही कहना होगा कि इसके द्वारा मर्त्यलोक में स्वर्ग की अवतारणा का स्तुत्य प्रयास हुआ है। सामाजिक जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति के ऐसे रोचक दृश्य-दर्शन का सौभाग्य और किसी साहित्य को प्राप्त नहीं हुआ है। यों तो मनुष्य में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का अंकुर स्वाभाविक है, पर जीवन में उसका स्थान वही है जो आठ पहर के दीर्घ काल में प्रभात वेला का, किन्तु यहाँ तो वह काल क्षणों तक नहीं शताब्दियों तक विस्तृत रहा है। इस युग की रचनाओं में दिव्य अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण हुआ है, इसने कला और साहित्य दोनों में पवित्रता की अपूर्व छाप लगा दी है। इसमें लौकिकता के प्रति विद्रोह-भावना नहीं है और इसमें भी कला का [illegible] हुआ है [illegible] निस्संदेह

इस परम्परा के द्वारा काव्य-साहित्य का एक मुख्य वर्णनीय विषय हो उठी है। इससे जीवन में शान्ति और सन्तोष, आशा और उल्लास, कर्तृत्वशीलता और सदाचार की स्थिति मजबूत हुई है। अस्थिरता और निराशा की काली छाया का आवरण तिरोहित होकर आनन्द का एक शुभ्र प्रकाश दिग्दिगन्त में परिव्याप्त हो गया है। संत-साहित्य में इस दिव्यानुभूति के सर्वत्र दर्शन होते हैं. उदाहरण के लिए सूरदास का एक पद नीचे देते हैं—

चकई री, चलि चरन-सरोवर,
जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ,
वह सागर सुख जोग।
जहाँ सनक से मीन हंस सिव,
मुनिजन नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर,
गुंजत निगम सुबास।
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल,
सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम,
इहाँ कहा रहि कीजै।
लछमी सहित होति नित क्रीड़ा,
सोभित सूरजदास।

अब न सुहात विषय रस छीलर,
वा समुद्र की आस।

'सूरदास'

यह वह पार्थिव प्रेम नहीं है जो वासना की गन्ध से कलंकित होता है। विषय-रस से परे अपार्थिव नाम रूप-विहीन उस अमर सत्ता के प्रति हृदय की बेकली का निदर्शन है। ऐसे भक्ति-रस का इतनी प्रभूत मात्रा में संचय और किसी साहित्य में हुआ हो ऐसा ख्याल नहीं। इस भक्ति-धारा के सूरदास जी एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्हें उसका स्रष्टा और विधाता कहने में भी शब्दों का अपव्यय नहीं होगा। उन्होंने सचमुच ही साहित्य और कला के क्षेत्र में भक्ति-भावना की तीर्थ-सलिला बहाई है। उन्होंने रूप और सज्जा को, प्रेम और सौंदर्य को दैवी पवित्रता से अभिषिक्त किया है। परवर्ती रीति-कालीन कवियों की वासनाजन्य उद्दाम कामुकता का चित्रण सूरसाहित्य का विषय नहीं है। सब कुछ कह कर भी वे पवित्र और अलिप्त हैं, और उनका पाठक भी उनके राधाकृष्ण के प्रति सदैव आराध्य भाव लिये रहता है, अपने पर उन्हें आरोपित नहीं करना चाहता। यह सब उनकी सत्यनिष्ठा और आन्तरिक प्रेरणा का परिचायक है। उनके महात्मापन, उनकी भक्ति, उनके हृदय की उज्ज्वलता और आचार की पवित्रता की जो छाप उनकी कला पर लगी हुई है वह उसकी सुन्दरता के वासनात्मक और रंगीन रूप को [illegible] प्रभा से सदाचार [illegible] है। यह सूरदास को [illegible] [illegible] [illegible] प्रथम कवि, भक्त-कवि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करती है।

कबीर के ज्ञानज्ञान में भूलकर हम अन्धतोष से दूर जा सकते हैं, तुलसी की मननशीलता में कला की मृदुलता का ह्रास प्रतीत हो सकता है। परन्तु सूरदास सर्वत्र कवि एवं कलाकार के साथ भक्ति के उन्माद में उन्मत्त हो रहे हैं। यही भक्तिपूर्ण भावावेश उन्हें सब से पृथक किये हुए है। भक्त-परिवार के लोग उन्हें मस्तक पर स्थान देते हैं तो कलाकारों की दुनियां में वे अनुपम शिल्पी हैं। उनके यहाँ भाव प्रबन्ध के बन्धन में बंधकर नहीं निकलते वरन हृदय के संगीत में गूंजते हैं। भाषा की अशक्तता में लँगड़ा कर चलने का असंबद्ध प्रवाह भी उनमें नहीं है, वे एक लय में, एक तान में, प्रवाहित होते हैं। सूरदास के काव्य में संगीतमयता का यही रहस्य है। सूर कोरा कवि नहीं है। वह अपने भक्तिपूर्ण भावों का उन्मत्त गायक है। उसकी भावविभोर भारती व्यवहार-जगत की समतल भूमि की सरिता नहीं, अन्तर्जगत की स्रोतस्विनी है। उसके काव्य का विषय भी इसी हेतु जीवन-जगत का सम्पूर्ण विस्तार नहीं, वरन गिनेगिनाये वे ही क्षेत्र हैं जहाँ उनकी भावुकता को कल्पना के रंगीन पंख लगा कर ऊँची से ऊँची उड़ान भरने का अवसर प्राप्त है। उनकी स्वाभाविक मृदुता ने अपने लिए जो प्रदेश तलाश किए हैं, वे इस अन्धे की बपौती हैं। उसने अपनी हृदय-तन्त्री पर सदा वही गीत गाये हैं, और उनके गाने में वह [illegible] हुआ है कि जब हम उन्हें गुनगुनाने लगते हैं तो आत्मविभोर हो जाते हैं। तभी क्यों भारतवर्ष के घर घर में उनकी वाणी गूँजती है। उनके कृष्ण, उनकी राधिका, उनकी यशोदा, उनके [illegible] [illegible] [illegible] में उनकी [illegible]

में लीन हैं।

भगवान् बुद्ध की भक्ति का एक बार इसी भारत में प्रवाह आया था। प्राणों के स्पन्दन में स्थान मिलने से वह तन ने मन से क्या, कण-कण से, रोम-रोम से, फूट पड़ी थी। उस समय के तृण-तृण में उसकी सुगन्ध बसी हुई है। साहित्य में शिल्प में, प्रदेश में-प्रदेश में, मूर्ति में, चित्र में, कहां बुद्धदेव की करुणा नहीं है? उनकी भव्य-दिव्य आत्मज्योति का प्रकाश अभी तक वैसा ही प्रोज्ज्वल है यद्यपि आज स्वयं बुद्धदेव नहीं हैं। इसी भांति आज सूरदास हमारे बीच नहीं है, पर वे अपने गीतों में अजर-अमर हैं। अपने गीतों के साथ वे हमारे घर-घर में, कुटी-कुटी में, त्योहार और उत्सव में, राग और रंग में, प्रेम और भक्ति में, साहित्य और शिल्प में मुखरित हो रहे हैं। उनका संगीत पृथक कर देने से हमारा कृत्रिम नागरिक जीवन चाहे अपने टीमटाम के साथ कुछ देर खड़ा रहे परन्तु हमारी जीवन-सरिता का मूल स्रोत अवश्य ही क्षीण हो जायगा। माताओं के, प्रेमिकाओं के, भक्तों के और सखाओं के लिए अपने हृदय के उद्गार निकालने का सूरदास के पद ही तो द्वार हैं। उन्हें खोकर 'मैया कब हि बढ़ैगी चोटी' ऐसी वात्सल्य रस को मूर्तिमान करने वाली उक्तियां कहां मिलेंगी? हमारे हृदय की भावनाओं का वह अमर गायक सूरदास आज यदि होता तो उसे अपने कवित्व पर आश्चर्य हुए बिना न रहता। उसने अपने मुललित गीतों में हमारे मन का शाश्वत भाव गा दिया है। इसी लौकिक अनुभूति में निमज्जित होने के कारण उसे भक्ति के [illegible] में स्थान [illegible] चरणों

में न चढ़ाकर सगुण के चरणों में समर्पित करनी पड़ी है।

तुलसीदास का विस्तृत और बहुमुखी प्रेक्षण सूरदास के काव्य का लक्ष्य नहीं है। इस पर आलोचक प्रवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने पर्याप्त और अच्छा प्रकाश डाला है। जीवन की सार्वदेशिक विवेचना में प्रवृत्त होने का अवकाश ही उन्हें कहां है? उनके चक्षुहीन संसार में लोकजीवन की व्यवहारिकता, उसके अनुशीलन, उसके विवरण और उसके प्रेय एवं श्रेय के निदर्शक प्रत्येक पहलू का विवेचन करने की गुंजायश नहीं है। इसीलिए यत्र-तत्र ऐसा वैसा संकेत भर प्राप्त हो जाता है जहां से हम उनके समय के समाज और जीवन का आभास पा जाते हैं। उस समय के रहन-सहन, पहनाव-ओढ़ाव, आचार-व्यवहार, पूजा-अनुष्ठान की सविस्तर अभिज्ञता सूरदास से हमें नहीं होती। बाह्यज्ञान की साधनभूत आंखों के अन्तरमुखी हो जाने से सूरदास की प्रतिभा भी अन्तर्जगत के अनावरण में विशेषरूप से प्रवृत्त हुई है। सौभाग्य और संयोग से सूरदास जी को महाप्रभु वल्लभाचार्य का संसर्ग प्राप्त हुआ। इस संसर्ग की प्रेरणा से उनकी नैसर्गिक प्रतिभा में पंख लग गये। उन्हें भगवद्लीला का ऐसा स्फुरण हुआ कि वह बरसाती नदी की तरह उनके अमर पदों में उमड़ पड़ी।

वैष्णवों के राधा-कृष्ण ही उनके काव्य के सर्वस्व हैं। राधाकृष्ण के साथ गोकुल-वृन्दावन, बरसाना-नन्दगांव, मथुरा-ब्रजभूमि, जमुना-जसोदा, ललिता-विशाखा, गौएँ और ग्वाल आते हैं। इनके बिना राधा-कृष्ण की दुनियां सूनी ही नहीं है, वरन उसका अस्तित्व भी इन्हीं को लेकर है। इस परिस्

दायरे में जीवन की साधना और आराधना का विशाल प्रासाद सूरदास ने खड़ा किया है। इन्हीं के आधार पर वात्सल्य, सख्य और कान्ता भाव के सम्बन्धों को उन्होंने अपनी वाणी का मर्मस्थल बनाया है। मानव अनुभूति के सुन्दर से सुन्दर स्थल अपने लिए सुरक्षित कर लेने पर उन्होंने उसे अपने हृदयरस में मिला कर के प्रतिभा के साथ संलग्न कर दिया है। सूरसागर के इन प्रकरणों को पढ़ते समय हमें पता चलता है कि हमारे ये अंधगायक, हिंदी के होमर, विश्व कवियों में कहां पर खड़े हैं ? सूरदास को पढ़ने के पहले क्या कभी हम यह सोच सकते हैं कि मनोवृत्तियों की यहां तक व्यंजना हो सकती है ! शिल्प-चित्रों की इस विस्तृत विशद दुनियां में कौन उनका जोड़ है ! अगणित पदों में हृदय की इन तीन अवस्थाओं का नाना विधि चित्रण करने में वे जैसे सफल हुए हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अपने पदों से सूरसागर भर दिया है। तब से जिसका लगातार मंथन हो रहा है, परन्तु अभी तक रत्न और सीपियों का अनुसन्धान नहीं हो पाया। भाव और अनुभावों की जितनी दशाएं हो सकती हैं, वे सभी सूर-साहित्य में स्थान पा चुकी हैं या उनमें से कोई रह गई हैं, यह निश्चय-पूर्वक कह सकना कठिन है। इसीलिए यदि हम सूरसागर को 'मानव हृदय का सागर' कहें तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। सच-मुच ही उसमें विश्व-व्यापी हृदय की वह रागिनी बजती है जो चिरनूतन है। युगों और शताब्दियों का अन्तर जिसे जरा-जीर्ण नहीं कर सकता। मानव हृदय के सुख-दुख की अमर झाँकी जिसमें सुरक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के रस को आंखों से पीकर कवि

ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने,
ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई,
इक बिरहिनि दूजे अलि जारी ।
'सूरस्याम' बिनु ज्यों जीवति है,
ब्रज बनिता सब स्याम दुलारी ।

× × ×

बिनु माधव राधा–तन सजनी सब बिपरीत भई ।
गई छपाय छपाकर की छबि रही कलंक मई ।
लोचन हुते सरद सरद से सुक्रवि निचोय लई ।
आँच लगे चुइगो सोनो ज्यों त्यों तनु धातु हई ।

यह साधना और कष्टों की मौन स्वीकृति सूर की राधा को वासनात्मक पंकिल भूमि से बहुत ऊँचा उठा देती है। कृष्ण के प्रति राधा की जो लगन है वह इतनी तपःपूत होकर प्रकट हुई है कि उसमें विकार का लेश भी नहीं रह गया है। यों तो सूरदास ने कहने से कुछ नहीं छोड़ा है। रूप और रति के वर्णन में वे सब कुछ कह गये हैं । उनके पास संकोच और गोपनीय बहुत कम है । परन्तु परिणति में वह विकार-जन्य नहीं है । राधा कृष्ण की केवल प्रेमिका नहीं है। केवल रूप और यौवन का उनका संबंध नहीं है। वे उनकी बचपन की सखी हैं। उस समय का दोनों का साथ है, जब हृदय में आँधी और तूफान नहीं उठते, केवल निश्छल और निष्कलंक अनुराग

रहता है। उस बाल्यप्रेम ने अवस्था के साथ सघन-गंभीर होकर विशाल वट वृक्ष की तरह फैलकर सब को आच्छादित कर लिया है। यहीं उस प्रेम की गहरी जड़े हैं। वे रसातल तक जा पहुँची हैं। इन्हें वियोग और कष्ट की दुर्निवार छाया अस्थिर नहीं कर सकती। वह प्रेम का बरसाती झरना नहीं है। उसका उद्गम उस आदि स्रोत से है जो सूखना नहीं जानता। उस उद्गम को खोजते हुए चलें तो 'सूरसागर' में ऐसे असंख्य दृश्य मिलेंगे—

हिंडोरैं हरि संग झूलहिं घोषकुमारि।
ब्रज वधू विधि क्यों न कीन्हीं,
कहति सब सुर-नारि।
झमकि झमकि झकोर लेति सु,
मची दाँव छवि चैन।
गावतं पचट सुराग नागरि,
गिरिधर बोलत सैन।
धनक नूपुर, कुनित कंकन,
किंकिनी झनकार।
तहँ कुँवरि वृषभानु की,
संग सोहैं नन्दकुमार।

बाल्य सहचरी राधा आदि के साथ कृष्ण के प्रथम प्रेम की घटना किसी एक्सीडेन्ट के रूप में घटित न हुई थी। वह प्रेम साहचर्य से परन्तु स्वाभाविक रीति से विकसित हुआ था।

इसके सिवा और कुछ होना ही नहीं था। इस एक पद में ही उस प्रेम का समस्त आशय सूर ने कह दिया है—

यह ऋतु भोरेहि भाय भई।
निरखत बदन नंद नन्दन को,
अब रहती सो गई।
हिरदै जामि प्रेम अंकुर जरि,
सा़ख पतार गई।
सो द्रुम परसि लिलार अंबर लौं,
छर जग छाय लई।
पवन सुजस मुकुल अवलोकनि,
गुननिधि पुहुप भई।
स्याम रस अनुराग भांति फल,
लागी प्रगट भई।
मन के भाव मनोरथ पूरन,
सेमर भार नई।
सूरदास प्रभु गिरिधर नागर,
मिलन रस रीति दई।

जिस प्रेम का उदय बचपन के इन भोले भावों में हुआ था, उसकी जड़ धीरे धीरे पाताल तक पहुँच गई हो या उसकी शिखा ने ऊपर उठकर आकाश को छू लिया हो, इसमें आश्चर्य ही क्या? राधा और गोपियों का यही प्रेम सूरदास के हृदय का [illegible] है। [illegible] कृष्ण के प्रति

इसी आधार पर वे समस्त सृष्टि में विरह-कथा की आवश्यकता का अनुभव कर सके हैं। इन्होंने जड़चेतन के ज्ञान को भुला कर सब को विरहरस की गंगा में स्नान कराया है। कृष्ण के बिना वन का फूलना भी इनकी दुनियां को असह्य है। उसके इस प्रकृत व्यापार के प्रति चारों ओर से धिक्कार की ध्वनि निकलती है, यथा—

> मधुबन, तुम कत रहत हरे ?
> बिरह-बियोग स्याम सुन्दर के
> ठाढ़े क्यो न जरे ?
> तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको,
> फिर सिर पुहुप धरे।
> ससा, स्यार और बन के पखेरू,
> धिक-धिक सबन करे।
> कौन काज ठाढ़े रहे बन मे,
> काहे न उकठि परे !
> सूरदास प्रभु-बिरह-दवानल
> नख-सिख लौं न जरे।

सृष्टि के निरन्तर व्यापारों में इन्हें विरह की व्याकुलता ही दिखाई पड़ती है। इसकी व्यापकता में क्या नहीं समा गया ? संसार का कण-कण अणु और परमाणु इसके अनुभव से शून्य नहीं है। विश्वजीवन इसी मधुर भावना से सजीव है। इसे निकाल देकर संसार के अस्तित्व की कल्पना ही करने में पड़ सकती है। इस सुन्दर और मधुर अनुभूति को हमारे

अंध गायक ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

सिरी कहँ की आतु गँवारै ?
अब तो अंग बिछुरी हरि हम ते
अँखियाँ नाहिं निहारैं ।
नयनन ते रवि बिछुरि गँवा रहे,
ससि अजहूँ तन गारै ।
नाभि ते बिछुरे कमल कट भये,
सिन्धु भव जरि लागै ।
बैन ते बिछुरी बानि अविधि भरी,
विधि ही कौन निहारै ।
सूरदास सब अँग ते बिछुरी,
केहि विधि उरधारै ?

जिनकी अनुभूति इतनी सजग है, जिनका प्रेम इतना घन-गम्भीर है, जो प्रकृति के लेखों में विरह-भावना की तन्मयता का ही संदेश सुनती और बांचती हैं, वे यदि ज्ञानी ऊधो के सामने प्रेम की अनन्यता को इन शब्दों में रखें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

मधुकर हम न होंहि वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु
करत कुसुम-रस-केली।
बारे ते बलबीर बढ़ाई,
पोसी प्याई पानी ।

बिन पिय परस प्रात उठि फूलत
होत सदा हित हानी।
ये बल्ली बिहरत बृन्दावन
अरुझीं स्याम तमालहिं।
प्रेम-पुष्प रस बास हमारे
बिलसत मधुर गोपालहिं।
जोग समीर धीर नहिं डोलत
रूप-डार ढिग लागी।
सूर पराग न तजत हिए तें
कमल नयन अनुरागी।

यह एकान्त प्रेम एक-पक्षीय होने से सांसारिक जीवन के लिए निरर्थक होता। प्रत्युत्तर-विहीन प्रेम-साधना मरुस्थल की उच्छ्वास की तरह अकारथ जाती। लोक-जीवन के लिए उसमें लाभालाभ का कोई आकर्षण न होता। इसलिए राधा और गोपियों की इस प्रेम-पीड़ा का इसके अनुरूप ही पुरस्कार भी भी सूर साहित्य में प्रकट है। अनेक कर्तव्यों में संलग्न कृष्ण की व्यस्तता कितनी बढ़ी हुई है? समस्त देश की राजनीति और समाजनीति को उन्हें संचालित करना है। धर्म और शास्त्रों की मर्यादा का पुनर्निर्माण उनके जिम्मे है। जीवन में नई व्यवस्था को स्थापित करने के गुरुतर दायित्व का भार उनके कंधों पर है। इसी कर्तव्य की आवश्यक प्रेरणा ने उन्हें व्रजभूमि, नंद-यशोदा, राधा और गोपियाँ, वृन्दावन और गोकुल से दूर कर रक्खा है, परन्तु ऊधो के सम्मुख एकान्त में जब वे अपना हृदय खोल कर

रखते हैं तभी हम जान पाते हैं कि ब्रजांगनाओं का प्रेम क्या रंग ला रहा है? राधा का कृष्ण के जीवन में कहाँ पर स्थान है? यशोदा और ब्रजभूमि तथा यमुना तट के करील कुंज कहाँ पर बसते हैं? प्रेम का यह पुरस्कार उस साधना की सफलता है जिस पर मुग्ध हुए बिना हम नहीं रह सकते। यह प्रेम-परिणाम की कटुता को सह्य बनाता है, और प्रेम-पथ को अनुसरणीय सिद्ध करता है। इससे प्रेमी हृदयों को प्रेरणा का संबल प्राप्त होता है। देखिए कृष्ण ऊधो से क्या कहते हैं—

ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी
अरु कुंजन की छाहीं।
वे सुरभी, वे बच्छ दोहनी,
खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल
नाचत गहि-गहि बाहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी,
मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवत वा सुख की
जिय उमगत तनु नाहीं।
अनगन भाँति करी बहु लीला
जसुदानन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै,
यह कहि-कहि पछिताहीं।

हैं। जिस प्रकार 'उत्तर रामचरित' की रचना करके भवभूति ने करुण रस के महत्व को नये सिरे से स्थापित करने का दृष्टिकोण प्रदान किया था, उसी प्रकार माँ यशोदा का चित्र प्रस्तुत करके सूरदास ने केवल वात्सल्य रस की प्रतिष्ठा ही नहीं की वरन् इस बात को सिद्ध कर दिया कि वात्सल्य के शृंगार की भाँति संयोग और वियोग दोनों पक्ष हैं। पुत्रवती जननी के प्रेमोल्लास, उसकी इन्द्रधनुषी आकांक्षाओं, उसकी कामनी अभिलाषाओं, उसकी भाव हिलोलों की थिरकन को शब्द-चित्रों में उतारने में सूरदास ने अपनी कवि की उपाधि को सार्थक कर दिया है। यदि वे इतना ही लिखकर अपनी लेखनी को विश्राम दे देते तो भी इस विषय में उनकी समकक्षता का दावा करने वाला शायद ही कोई कवि होता। परन्तु उन्होंने तो वियोगिनी माता का करुणार्द्र चित्र भी खींचा है, और ऐसा खींचा है जिसने 'सूरसागर' को सचमुच सागर बना दिया है।

कृष्ण की उपस्थिति में माता यशोदा क्या-क्या अभिलाषाएँ करती हैं, उनमें से एक देखिये—

> मेरो नान्हरिया गोपाल हो, बेगि बड़ो किन होहि।
> इहि मुख मधुरे बैन हौं, कब 'जननि' कहौगे मोहि।
> यह लालसा अधिक दिन दिन प्रति कबहुँ ईस करौ।
> मो देखत कबहुँ हँसि माधव [illegible]
> हलधर सहित [illegible]
> दिन दिन [illegible]
> आगम निगम [illegible]
> 'सूरदास' [illegible]

व्यंजित करने के लिए उन्होंने भाषा को घिस-मांजकर वह रूप प्रदान किया है जो आकर्षण और माधुर्य में अनुपम है। इससे पूर्व ब्रजबोली का ऐसा मनोहर रूप कभी देखने-सुनने में नहीं आया था। सूर द्वारा समाविष्ट लालित्य के कारण ही ब्रजभाषा परवर्ती कवियों का हृदय अपनी ओर आकृष्ट कर सकी। श्रीकृष्ण की मुरली में जो मादक स्वर-सामंजस्य था मानों उनकी लीला गाने के लिए उसी को सूरदास ने ब्रजवाणी में घोल दिया हो। जिस प्रकार कृष्ण का बंशीवादन सुनकर गोप और गोपियाँ, गौयें और पशु पक्षी, कालिन्दी और करील कुन्ज मुग्ध और आत्मविस्मृत हो जाते थे उसी प्रकार सूर के 'सगुण-पदों' को सुनकर सारा देश विमुग्ध और विसुध होगया। जहां देखो वहीं ये पद कंठ-कंठ से प्रतिध्वनित होने लगे। सूरदास की सार्वभनीनता इस बात की घोषणा करती है कि वही आत्मा के संदेश की वाणी देने वाला कवि है, वही हृदय की आकुलता को संगीत में ढालने वाला अमर गायक है। इसी कारण हिन्दी-साहित्य गौरवशाली और विश्व-विश्रुत हुआ है। ब्रज-साहित्य के अधिष्ठाता सूर इन गुणों के कारण स्वयं अमर होगये हैं और अपने साथ ही अमर कर गये हैं उस विभूति को जिससे आज भी हम वैभव सम्पन्न हैं।

हैं। हमें उनकी कला का रस-पान करने के लिए अपनी परिस्थितियों के बाहर बिहारी की दुनियाँ में पहुँच जाने की आवश्यकता है। जब तीन सौ वर्ष पुराना चश्मा अपनी आँखों पर लगा कर उन्हें देखें तभी हम उनके काव्य का समुचित आनन्द ले सकते हैं। कहा जाता है, कि बिहारी के इस एक दोहे ने वह कार्य कर दिखाया था जो मंत्रियों की मन्त्रणा भी कर सकने में असफल रही थी—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
> अली कली ही सों लग्यो, आगे कौन हवाल ॥

इस कथन के ऐतिहासिक तथ्य में संदेह भले ही हो परन्तु इससे यह बात तो प्रकट है, कि उनके दोहे करामती अवश्य थे। वे अपने चुटीलेपन से पाठकों और श्रोताओं को मर्माहत किए बिना न रहते थे। अर्थगर्भित सूक्तियाँ लोगों को विचलित कर देती थीं। उनकी अन्योक्तियों में व्यक्तियों की जीवन-धारा को प्रभावित करने की शक्ति थी। यह बात छिपी नहीं है, कि इसी कवित्व की बदौलत राज-दरबार में उनकी रसाई और प्रतिष्ठा थी। इसी के द्वारा उन्होंने धन और आजीविका पाई थी। उनकी कविता इस योग्य समझी जाती थी, कि उसके बदले में उन्हें जीवनयापन के समुचित साधन जुटाने की चिन्ता से मुक्त करने लायक स्थिति में पहुँचा दिया गया था। उनके आश्रयदाता उनकी प्रतिभा के कायल थे। कला और साहित्य की रुचि उनमें जैसी भी रही हो, पर रुचि अवश्य थी, और बिहारी की कविता उनकी रुचि की तृप्ति करने का गुण रखती थी। यह तो हुआ एक दृष्टि-कोण जिससे बिहारी व

इस काल में पिछले शृंगारी कवियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया। उन पर धूल भी उछाली गई। इनके साहित्य को कूड़े की टोकरी में फेंक देने का प्रचार किया गया, पर धन्यवाद है पंडित पद्मसिंह शर्मा को कि उन्होंने फिर से 'बिहारी जिन्दाबाद' के नारे लगाये और लोगों को बता दिया कि रीति कालीन साहित्य भूल जाने की वस्तु नहीं है। उसमें बिहारी जैसे रससिद्ध कवीश्वर मौजूद हैं। उन्होंने प्राकृत, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं के कवियों के काव्य के साथ बिहारी की रचनाओं की तुलना करके बताया कि दूर के ढोल जितने सुहावने लगते हैं, उतने वे वस्तुतः नहीं होते। अपने पास की, अपने घर की वस्तुओं को सँभालो और देखो कि इन चिथड़ों में कितने रत्न छिपे पड़े हैं। शर्मा जी की 'बिहारी सतसई की भूमिका' ने कुछ दिन फिर नई प्रेरणा के साथ बिहारी की रचनाओं का पठन-पाठन प्रचलित करा दिया। इसके फल स्वरूप 'बिहारी रत्नाकर' जैसे सुसंपादित ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हुआ। और भी कितनी ही छोटी बड़ी टीकाएं और व्याख्याएं निकलीं। 'वीर-सतसई' और 'दुलारे दोहावली' इसी प्रेरणा से अनुप्राणित होकर अपने-अपने रूप को प्राप्त हुई। इस प्रकार बिहारी की सतसइया का हिंदी साहित्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव है और इस दृष्टि से बिहारी कोई साधारण कवि नहीं ठहरते। डॉक्टर ग्रियर्सन जैसे विद्वान ने बिहारी के संबंध में लिखा है, कि 'मेरी निगाह में किसी भी यूरोपियन भाषा में बिहारी की जैसी रचनाएं नहीं हैं।'

बिहारी [illegible] कवि कहे जाते हैं और [illegible] रागी कवि हैं

ताहि देखि मन तीरथनि, विकटनि जाइ बलाइ।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाइ।

\+ + + +

तिय कित कमनैती पढ़ी, बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझे चुकत नहिं बंक विलोकनि बान।

\+ + + +

धनि इन लोचन को कछु, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।

\+ + + +

मोहूं दीजै मोषु, जो अनेक अधमन दियौ।
जो बाँधैंही तोषु, तो बाँधौ अपने गुनन।

\+ + + +

कन दैबो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप रहँचटे लग लग्यो, मागन सब जग आनि।

बिहारी के ऊपर उनके युग की छाप है, परन्तु उनमें स्वतंत्र उद्भावना की अद्भुत क्षमता भी है। अपनी इस क्षमता से जहां कहीं उन्होंने काम लिया है वहा उनकी रचनाए शाश्वत जीवन-धारा के मर्मोद्घाटन मे बड़ी सुंदरता से समर्थ हुई हैं। आलंकारिक चमत्कार पर मुग्ध न होकर यदि वे भाषा की 'सेत सारी' मे अपनी कविता कामिनी को देखना पसद करते और अपनी अन्तस्पर्शिनी भावना को जीवन की मर्म पीड़ा

काव्य-कोकिला मीरां

उस समय हिन्दी-साहित्य के कानन में वासन्तिक वसन्त का प्रादुर्भाव हुआ था। वसन्त के उस प्रथम प्रभात में ही रोम-रोम पुलकित हो उठा था। फूल महक उठे थे। कलियाँ स्निग्ध हो गई थीं। शाखा प्रशाखाओं से प्रेमालाप करने लगी थीं। कण-कण से संगीत फूट पड़ा था। प्राण प्राण से रागिनी बज उठी थी। अन्धे सूरदास ने आकुल कंठ से अपनी कातर स्वर लहरी में गाया था—"वंशीले, मुरली नेकु बजाउ।" उनके साथ ही व्रजमंडल के अणु-अणु से, वृन्दावन के कुञ्ज-कुञ्ज से, कवि-कोकिलों की मधुर मादक तान गूँज उठी थी। प्रेम की इस काव्य-वीणा से हृदय-तन्त्री का तार-तार झनझना उठा था। भक्ति की उस सरिता में सभी कुछ रसमग्न हो गया था। प्राणों के इस आवेग की मूलधारा अतीत-काल की गिरिगुहा से प्रस्रवित होकर आ रही थी। वह उतनी ही पुरानी थी जितना मानवहृदय। ऋग्वेद में, उपनिषद् में, श्रीमद्भागवत में, नाना संतों, भक्तों और उपासकों में और कवियों में भी उसकी परंपरा मिलती है। कहीं बीज रूप से, कहीं अंकुर और कहीं पुष्प रूप से। जयदेव ने 'कुञ्ज-कुटीरे जमुना तीरे वसति धीरे वनमाली' कह कर जब टेर लगाई थी और विद्यापति ने जब 'नन्दक नन्दन कदम्बक तरु तर धिरे धिरे मुरली बजाव।' गाया था तब से उनका [illegible] ही पर कि-

वेग और वह तीव्र बेचैनी नहीं है जो मीरां में। मीरां राधा और गोपियों के प्रेम की कथा नहीं कहती हैं। वे ब्रजांगनाओं के विरह के गीत नहीं गाती हैं। वे सूर आदि अन्य कवियों की भांति अपने मुरलीमनोहर की रास-क्रीड़ा को केवल देखने वाली नहीं हैं। उन्हें राधा और चंद्रावली बन कर कृष्ण की प्रीति का उलहना भी नहीं देना है। वे तो अपने ही सांवरिया के प्रेम की दीवानी हैं। उनकी प्रेम-पीड़ा अपनी प्रेम-पीड़ा है। उनकी लगन अपनी लगन है। अपने बचपन से उन्होंने गिरधर गोपाल के प्रति अपने को समर्पित कर रक्खा है। उसी प्रेम की कसक को वे लिए फिरती हैं। वे अपने उसी प्रियतम की खोज में दर-दर, वन-वन घूमती हैं। उसी के गीत गाती हैं। उसी को अपने प्रेम का अर्घ्य चढ़ाती हैं। उसी के सामने नाचकर और कभी गाकर उसे रिझाती हैं। स्वानुभूति रूप मीरां का प्रेम होने से उनके पदों में उसकी व्यंजना भी बहुत तीव्र हुई है। उसमें कहीं कृत्रिमता नहीं है। कहीं शिथिलता नहीं है। कहीं परत्व या दूरत्व नहीं है। निजत्व की छाप होने से उसकी मार्मिकता बढ़ गई है। इसीलिए उनके काव्य में संगीत की मधुरता विशेष है। वह वस्तुतः उनके हृदय की झनकार है या उनके मानस का स्पंदन है।

मीरा के साधनापथ में पारिवारिक और सामाजिक अनेक व्यवधान [illegible] हुए हैं। उनकी चोट से उनकी वाणी में क्रन्दन की कातरता और अधिक समा गई पर ज्यों-ज्यों वे अपने उपास्य के रंग में रंगती गई हैं त्यों-त्यों उनके अनुराग का रंग भी गहरा होता गया है। [illegible] लिए

क्षुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरां प्रभु संतन सुखदाई भगत बछल गोपाल।

मीरां के अनुराग की अनन्यता उनके इस पद में कैसी मार्मिकता के साथ अंकित है, देखिये—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
छांड़ि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई
सन्तन ढिग बैठि बैठि लोक-लाज खोई।
अँसुवन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई।
भगति देखि राजी भई जगत देख रोई।
दासी मीरां लाल गिरधर तारो अब मोही।

इस निश्छल कथन में उनके हृदय की सचाई व्यक्त है। भाव-प्रवण अनुरागिनी नारी की स्वाभाविक अभिलाषा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती है? जिसके लिए लोक-लज्जा और कुल-मर्यादा सबका तिरस्कार करके मीरां निकल पड़ी थीं। साधु संतों का साथ किया था। जिसके प्रेम की बेलि हृदय के जल से अभिसिंचित होकर फैल गई थी, उसी की छाया में आठों पहर वह हृदय की वंशी बजाया और प्रेम की रागिनी गाया करती थीं। मीरां के विरह के सम्बन्ध में उनके प्रसिद्ध समालोचक श्रीयुत 'माधव' का कहना है कि "मीरां का [illegible] गहरा अधिक है, व्यापक कम। [illegible] पर [illegible] जिज्ञासा के साथ तन्मयता [illegible] और न अब

उनके नैनों में अपने प्रियतम का जो रूप समा गया है, उस पर उनका जीवन सर्वस्व निछावर है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उससे अधिक प्रिय हो। सारे संसार की लोक लज्जा भी उसके प्रेम पर निछावर है—

> आली री मेरे नैनन बाण पड़ी।
> चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति, उर बिच आन गड़ी।
> कब की ठाढ़ी पंथ निहारूं, अपने भौन खड़ी।
> कैसे प्रान पिया बिन राखूं, जीवन मूर जड़ी?
> मीरां गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी।

मीरां ने अपने लिए सरस भक्ति को चुना है। अपने गिरधरलाल से वे उसी की याचना करती हैं। उन्हें प्रसन्न करने के लिए लोक-जीवन की मर्यादा जाय तो जाय।

> मैं तो सांवरे के रंगराची।
> साजि सिंगार बाँधि पग नूपुर लोकलाज तजि नाची।
> गई कुमति लई साधु की संगति भगत रूप भई साँची।
> गाय-गाय हरि के गुन निसदिन काल व्याल सों बाँची।
> उण बिन सब कुछ खारो लागत और बात सब काँची।
> मीरां श्री गिरधरनलाल सूं भगति रसीली जाँची।

प्रेम और भक्ति की इसी अनन्यता के कारण मीरां को संसार में और कुछ अच्छा नहीं लगता। रात दिन उन्हें एक ही ध्यान रहता है। वे अपने आराध्य के ध्यान में लवलीन रहती हैं। मिलन की आशा से ही जीती हैं।

उनकी अपनी विचार धारा भी उन्हें वैष्णव ही सिद्ध करती है। परन्तु बचपन से, राजपूता के समय से ही, उन्हें साधु-सन्तों का सत्संग प्राप्त होता रहा था। यह साधु संगति उनकी कभी नहीं छूटी। घर छूट गया, परिवार छूट गया, राजमहल छूट गया पर गिरधर गोपाल का प्रेम और साधु संगति एक क्षण को न छूटी। इन दोनों में से गिरधर गोपाल का प्रेम उनमें वैष्णव एलीमेंट का अस्तित्व बताता है और साधु संगति तत्कालीन अन्य प्रचलित परंपराओं के प्रभाव को सूचित करती है। इसी आधार पर संभवतः मीरां को रैदास की शिष्या स्वीकार किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि मीरां पर सन्त-परंपरा का खासा प्रभाव था। सूफी मत की देन मीरां के प्रेम में प्रत्यक्ष है। निर्गुणियें संतों के निराकार परमेश्वर से भी उनका परिचय है। गोरख पंथी तंत्र साधकों और हठयोगियों की वाणी में बोलना भी वे जानती हैं और कहीं कहीं 'सुन्न महल' 'अगम देश' 'त्रिकुटी' 'सुखमणा' आदि का उल्लेख करती हैं, जैसे—

(१) ऊँची अटरिया, लाल किंवरिया, निर्गुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर शुभ सोहै फूलन फूल कली।
सुमिरन काज हाथ में लीन्हा शोभा अधिक भली।
सेज सुखमण मीरां सोहै शुभ है आज घड़ी।

(२) *नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ।*
इन नैनन मेरा साहब बसता डरती पलक न नाऊँ री
रंगमहल में बना है झरोखा तहाँ से झाकी लगाऊँ री

हम मीरां को रहस्यवादिनी कहें तो कह सकते हैं। मीरां को तो पूर्ण विश्वास है—

> मीरां के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहो जी धीरा
>
> आधी रात प्रभु दरसन देहैं प्रेम-नदी के तीरा।

अंधकारमयी रात्रि में भी उस प्रेम-नदी का तट मीरां को तलाशना नहीं पड़ेगा। वे तो युग युग से उस सहेट से परिचित हैं। नित्य मिलनोत्सव में सम्मिलित होने वाली आत्मा की इस विश्वस्त वाणी में रहस्यवाद की उद्भावना मीरां के काव्य की कोई विशेषता नहीं हो सकती।

मीरां की भाषा भी साधु-संग और देश-विदेश भ्रमण के प्रभाव से शून्य नहीं है। मारवाड़ में उनका जन्म हुआ था। मेवाड़ में ब्याही थीं। ब्रज के कुञ्जों से उनका परिचय था और द्वारकाधीश की वे चरण-सेविका थीं। इस प्रकार उनकी भाषा में मारवाड़, मेवाड़, ब्रज और गुजरात का रंग स्पष्ट है। भाषाओं का इस प्रकार मिश्रण होते हुए भी उनके गीतों में मधुरता की कमी नहीं है, शायद इसीलिए कि वे उनकी आत्मा के संगीत रूप में निकले थे। रचे नहीं गये थे।

———

हम मीरां को रहस्यवादिनी कहें तो कह सकते हैं। मीरां को तो पूर्ण विश्वास है—

> मीरां के प्रभु गहिर गँभीरा, सदा रहो जी धीरा
> आधी रात प्रभु दरसन दैहैं प्रेम-नदी के तीरा।

अंधकारमयी रात्रि में भी उस प्रेम-नदी का तट मीरां को तलाशना नहीं पड़ेगा। वे तो युग युग से उस संकेत से परिचित हैं। नित्य मिलनोत्सव में सम्मिलित होने वाली आत्मा की इस विश्वस्त वाणी में रहस्यवाद की उद्भावना मीरां के काव्य की कोई विशेषता नहीं हो सकती।

मीरां की भाषा भी साधु-संग और देश-विदेश भ्रमण के प्रभाव से शून्य नहीं है। मारवाड़ में उनका जन्म हुआ था। मेवाड़ में ब्याही थीं। ब्रज के कुञ्जों से उनका परिचय था और द्वारकाधीश की वे चरण-सेविका थीं। इस प्रकार उनकी भाषा में मारवाड़, मेवाड़, ब्रज और गुजरात का रंग स्प भाषाओं का इस प्रकार मिश्रण होते हुए भी उनके गीतों मधुरता की कमी नहीं है, शायद इसीलिए कि वे उनकी आ के संगीत रूप में निकले थे। रचे नहीं गये थे।

वाद से इनसे कोई वास्ता नहीं है । इसीलिए इनका विर
निवेदन लोक हृदय की शाश्वत व्यंजना के रूप में हुआ है
अत्युक्ति उसमें नहीं है । अस्वाभाविकता भी नहीं है । जो बा
यह कहते हैं वह इनके अन्तरतम प्रदेश से निकलती है । अप
साथ यह असर लिए होती है । उसके वार से कोई सहृद
अपने को बचा नहीं सकता । देखिये—

(१) पहिले अपनाय सुजान सनेह सों,
क्यों फिरि नेह को तोरिये जू ।
निरधार अधार दै धार मँझार,
दई गहि बाँह न बोरिये जू ।
घन आनन्द आपने चातक को
गुन बाँधिलै मोह न छोरिए जू ।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस
बिसास मैं यों विष घोरिए जू ।

(२) कित को ढरिगो वह ढार अहो
जिहि मो तन आँखिन ढोरत हे ।
अरसानि गही उहि बानि कछू
सरसानि सों आनि निहोरत हे ।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो
तब यों सब भाँतिन भोरत हे ।
मन माँहि जो तोरन हाँ ता करी
[illegible]

मेम सदा अति ऊँचो लहै

सु कहै इहि भांति की बात छकी।

सुनि कै सबकै मन लालच दौरै

पै बौरे लखै सब बुद्धि चकी।

जग की कविताई के धोखे रहै

ह्यां प्रवीननि की मति जाति जकी

समुझै कविता घनआनन्द की

हिय आँखिन नेह की पीर तकी।

इनकी भाव और भाषा सम्पत्ति दोनों को दिखाने के लिये यहाँ हम उनकी कुछ पंक्तियां देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। आप देखेंगे कि अब तक जितने कवियों से आपका परिचय हो चुका है उन सबसे घनानंद निराले हैं। दीन और दुनियाँ, रीति और नीति किसी की उन्हें परवाह नहीं है। उन्हें एक ही धुन, एक ही प्यास है। प्रेमी पपीहा की तरह उन्होंने एक ही रट जीवन भर रटी है। उनसे पल भर को विश्राम या विराम उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया। उन्होंने अपने दुख-भार में प्रेम की चादर के नीचे ही विश्राम किया है। वहीं रहे, हंसे, नाचे और गाये हैं। दूसरी किसी दुनिया की चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की है। इसी तन्मयता में अपनी भावना में रमने वाले प्रेमी साधकों में घनानन्द का नाम सब तक अमर रहेगा जब तक इनका एक भी छन्द मौजूद है। दूसरे रीतिकालीन [illegible] [illegible]

घनानन्द ने विशुद्ध ब्रजभाषा का जिस सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है वह देखते ही बनता है। इनके बाद भाषा की ओर ध्यान देनेवालों में पद्माकर ही एक हुए हैं। इनसे पहले के कवियों में स्वच्छ, शुद्ध, मीठी और प्रसन्न भाषा शैली का विस्तार घनानन्द में चरमोत्कर्ष को पहुँचा हुआ है। इन्होंने जिस प्रकार अपने हृदय के आवेगों को अपनी रचनाओं में व्यक्त कर दिया है, उन्हें सजाया नहीं है, उसी प्रकार भाषा को बनाने की विशेष चेष्टा नहीं की है। तो भी इनकी भाषा इतनी जोरदार और लाक्षणिक प्रयोगों से पूर्ण है कि उसकी सराहना किये बिना नहीं रहा जाता। इनकी भाषा और शैली का अनुकरण हमें कई बड़े बड़े कवियों में मिलता है जैसे पद्माकर, हरिश्चन्द्र और रत्नाकर। सवैया छंद लिखने में यह एक ही थे। इस छन्द में इनकी भाषा और भावुकता एक प्राण होकर रही है। इनकी कविता के सम्बन्ध में नीचे लिखे दो सवैये बहुत प्रसिद्ध हैं—

नेही महा, ब्रजभाषा प्रवीन
और सुन्दरताइ के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति मैं कोविद,
भावना भेद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग मैं भीज्यो हियो,
बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रबीन सुछंद सदा रहै,
[illegible]

प्रेम सदा अति ऊंचो लहै

सु कहै इहि भांति की बात छकी।

सुनि कै सबके मन लालच दौरै

पै बौरै लखैं सब बुद्धि चकी।

जग की कविताई के धोखे रहै

ह्यां प्रवीननि की मति जाति जकी

समुझै कविता घनआनन्द की

हिय आंखिन नेह की पीर तकी।

इनकी भाव और भाषा सम्पत्ति दोनों को दिखाने के लिये यहां हम उनकी कुछ पंक्तियां देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। आप देखगे कि अब तक जितने कवियों से आपका परिचय हो चुका है उन सबसे घनानंद निराले हैं। दीन और दुनियां, रीति और नीति किसी की उन्हें परवाह नहीं है। उन्हें एक ही धुन, एक ही प्यास है। प्रेमी पपीहा की तरह उन्होंने एक ही रट जीवन भर रटी है। उससे एक पल को विश्राम या विराम उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया। उन्होंने अपने सुधा-काल में प्रेम की अमराई के नीचे ही निवास किया है। वहीं रहे, रमे, नाचे और गाये हैं। दूसरी किसी दुनिया की चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की है। इसकी तन्मयता से अपनी भावना में [illegible] [illegible] [illegible] में घनानन्द का नाम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी अमर मौजूद है। दूसरे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का नेह निभाना एक [illegible] है

प्रेम सदा अति ऊंचो लहै
सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनिकै सबके मन लालच दौरै
पै बौरै लगैं सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखे रहै
ह्या प्रबीननि की मति जाति जकी
समुझै कविता घनआनन्द की
हिय आंखिन नेह की पीर तकी।

इनकी भाव और भाषा सम्पत्ति दोनों को दिखाने के लिये यहाँ हम इनकी कुछ पंक्तियां देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। आप देखेंगे कि अब तक जितने कवियों से आपका परिचय हो चुका है उन सबसे घनानंद निराले हैं। दीन और दुनियां, रीति और नीति किसी की उन्हें परवाह नहीं है। उन्हें एक ही भूख, एक ही प्यास है। प्रेमी पपीहा की तरह इन्होंने एक ही रट जीवन भर रटी है। उसमें पर कभी विश्राम या विराम इन्होंने कभी अनुभव नहीं किया। इन्होंने अपने सुजान के प्रेम की अमराई के नीचे ही निवास किया है। यहीं रहे, बसे, नाचे और गाये हैं। दूसरी किसी दुनियां की चिन्ता इन्होंने कभी नहीं की है। इसी तन्मयता से अपनी भावना में रहने वाले प्रेमी साधकों में घनानन्द का नाम तब तक अमर रहेगा जब तक उनका एक भी छन्द मौजूद है। इन्हें [illegible]
[illegible]

घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ
बिनती मन मानि कैं लीजिए जू।
बसिकैं इक गाव में एहो दई
चित ऐसो कठोर न कीजिए जू।

हम भी यही कहेंगे कि घनानंद जीवन भर अपने नेत्रों को तुला पर कंचन-रूप तौलते रहे थे—प्रेम की हाट में हृदय का ही सौदा करते रहे थे। चतुराई, छल और स्वार्थ को उनकी दुनियां में स्थान नहीं था। वे सचमुच धन्य थे।

की प्राञ्जलता पर खूब ध्यान दिया था। यदि काव्य को जीवन के दर्पण में देख सकने की प्रतिभा उनमें होती तो वे निश्चय ही महाकवि होते, भाषा पर उनके अधिकार को देख कर यह बात पूर्ण निश्चय और विश्वास के साथ कही जा सकती है। इनकी भाषा ने लोगों को इतना मोहित किया कि परवर्ती कवियों ने उसका अनुसरण करने में अपनी अशक्ति और अयोग्यता का विचार तक छोड़ दिया। फल उल्टा ही हुआ। पद्माकर की विशेषताएँ तो उनकी शैली में आ न पाईं, पर अनुप्रासों की कृत्रिमता का बाहुल्य हो गया। पजनेस और ग्वाल आदि कवियों के काव्य में इस विडम्बना के पूरी तरह दर्शन होते हैं। पद्माकर के सफल और सुन्दर अनुगामियों में स्वर्गीय रत्नाकर ही विशेष उल्लेखनीय हैं।

पद्माकर राज-दरबारी कवि थे। उनका काव्य रीति काल की परम्परा से शासित था। उनके काव्य का विषय राज कीर्ति या राजकीय विलास-भोग ही हो सकता था। कभी कभी रानों के पारस्परिक संघर्ष का अनुभव भी हो जाता था। इसलिए उनके काव्य का अधिकांश शृंगारमय है और वह शृंगार भी मर्यादित नहीं है। उनका वर्णन लौकिक और वासनात्मक है। इसी छोटे से दायरे में हाव-भावों की कलाबाजी कहीं दिखाती पड़ी है। स्वकीया और परकीया नायिकाओं के प्रेम और अभिसार में उनकी सारी प्रतिभा डूबी हुई है। कहीं तो हम यही सुन सकेंगे—

> ननँदी करी [illegible] करी
>
> [illegible]।

है। राजा रघुनाथराव की उदारता के प्रति एक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ऐसे ढंग से रक्खा गया है कि पाठक कवि की सूझ की सराहना किये बिना नहीं रहता। तथापि जयचंदराजी के सिवा इनमें वह तत्व नहीं है जो प्रसुप्त त्यागवृत्ति को प्रज्वलित कर सके, या दया की भावना को जगा सके। कह सकते हैं कि कवि मर्म को स्पर्श कर सकने की क्षमता इसमें नहीं पैदा कर पाया है।

यही दशा पद्माकर की भक्ति विषयक रचनाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इनमें भी उनकी आत्मा का तादात्म्य लक्षित नहीं होता। यद्यपि एक स्थल पर इन्होंने सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किया है, परन्तु शायद शृंगार की भावना से वे मुक्ति नहीं पा सके। उनकी रुचि में स्थायी परिवर्तन नहीं हो पाया या यों कहें भक्ति की भावना उनके अन्तर से नहीं निकली। भक्तों के आवेश रूप में वे इसे अपने आराध्य के सन्मुख नहीं रख पाये। उनमें हृदय के योग का अभाव है। जब इन्होंने शृंगारी जीवन की व्यर्थता से दुःखी हो कर यह कहा था—

[illegible]

है। राजा रघुनाथराव की उदारता के प्रति एक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ऐसे ढंग से रखा गया है कि पाठक कवि की सूझ की सराहना किये बिना नहीं रहता। तथापि अयांदराजी के लिया इसमें वह तत्व नहीं है जो प्रसुप्त त्यागवृत्ति को प्रज्वलित कर सके, या दया की भावना को जगा सके। कह सकते हैं कि कवि मर्म को स्पर्श कर सकने की क्षमता उसमें नहीं पैदा कर पाया है।

यही दशा पद्माकर की भक्ति विषयक रचनाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इनमें भी उनकी आत्मा का तादात्म्य लक्षित नहीं होता। यद्यपि एक स्थल पर उन्होंने सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किया है, परन्तु शायद शृंगार की भावना से वे मुक्ति नहीं पा सके। उनकी रुचि में स्थायी परिवर्तन नहीं हो पाया या यों कहें भक्ति की भावना उनके अन्तर से नहीं निकली। प्राणों के आवेग रूप में वे इसे अपने आराध्य के समीप नहीं रख पाये। उसमें हृदय के योग का अभाव है। जब उन्होंने शृंगारी जीवन की व्यर्थता से दुखी हो कर यह कहा था—

हौं थिर मन्दिर में न रह्यो
गिरि कन्दर में न तप्यो तप जाई।
राज रिझाये न कै कविता
रघुराज-कथा न यथामति गाई।
यों पछितात कछू 'पदमाकर'
का सो कहौं निज मूरखताई।

[illegible] मोए से लोचन
[illegible] रैन बिताई।
× × ×
[illegible] स्वेद बढ़ो,
[illegible] भरो झाई।

मानस शास्त्र के एक अंग का कैसा सूक्ष्म ज्ञान इन पंक्तियों में है। यह भी अनवरत साधना का फल है। यद्यपि यह साधना मनुष्य की वासनात्मक प्रवृत्ति को जगाने में ही विशेष रूप से लगी है। मनुष्य जीवन में वासना और रति का जो स्थान है, उस सीमा का उल्लंघन करने के कारण ही हम इसे हेय कहते हैं। यदि मर्यादा का ध्यान रख कर कवि रचने कर्म में प्रवृत्त होगा, तो जीवन की एक आवश्यकता के रूप में दाम्पत्य-प्रेम चर्चा भी कोई त्याज्य नहीं है। परन्तु क्या कवि किसी मर्यादा में बँधा हुआ है? मर्यादा से बँधा हुआ न भी हो तो भी कवि को यह अधिकार तो नहीं दिया जा सकता कि सब समय विकारजन्य वातावरण में झोंक देने के अनुकूल परिस्थिति पैदा करे। विशेष समय और विशेष अवस्था के लिए इस तरह का साहित्य भी उपयुक्त हो सकता है। अवश्य यह उपयोग की चीज़ नहीं है। पर ऐसे में उसके रचित आदमी की सद्बुद्धि होनी चाहिए।